महासती सीता चरित्र आधारित

तमाचा

प.पू. न्याय विशारद आचार्यदेव श्रीमद् विजय
भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा

वीर संवत
२५४४

विमोचन पर्व

विक्रम संवत
२०७४

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर,
सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव
श्रीमद् विजय जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा का ८३ वा जन्मदिन
अषाढ वद-२, दि. ३०-०७-२०१८, सोमवार

₹ - १००/-

प्रकाशक
दिव्यदर्शन ट्रस्ट

नकल
२०००

प्राप्तिस्थान

दिव्यदर्शन ट्रस्ट
कुमारपाळभाई वी. शाह
39, कलिकुंड सोसायटी, जि. अहमदाबाद - 387810
O : 02714 - 225482
www.jainonline.org

कर्णावती ब्रश
रूपेशभाई वोरा
82, फतेहपुरा गाँव, उमंग म्युनिसिपल स्कूल के सामने,
पालडी, अहमदाबाद - 380 007 M : 95861 23446

उर्मिलभाई शाह
D/2/3, नूतनजीवन को.हा.सो.,
कृपानगर, ईर्ला, विले पार्ला (वेस्ट), मुंबई - 56.
M : 9820527710

डिजाईन	कम्पोझ	प्रिन्टिंग
हार्दिक कापडिया	निखिल पटेल	पारस प्रिन्टर्स
(99302 02335)	(99785 45000)	(98690 08907)

अविरत
आशिषवर्षा

परम पूज्य सिद्धान्त महोदधि आचार्यदेव

श्रीमद् विजय प्रेम सूरीश्वरजी महाराजा

परम पूज्य न्याय विशारद आचार्यदेव

श्रीमद् विजय भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर, सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव

श्रीमद् विजय जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा

सौजन्य

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर,
सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव

श्रीमद् विजय जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा के

८३ वे जन्मदिन निमित्त

गुरुभक्त परिवार
भिवंडी

कलम से निकला अमृत...

परम पूज्य न्यायविशारद गुरुदेवश्री भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा का साहित्य, ऐसा है जैसे मिष्टान्न के साथ दी गई औषधि हो !

गुरुदेवश्री 'परमतेज' एवं 'उच्च प्रकाशना पंथे' समान तत्त्वरस से भरपूर इन्जेक्शन-औषधि देने में तो समर्थ थे ही, साथ ही, समरादित्य, सीताजी आदि कथानक द्वारा मिष्टान्न देने में भी कुशल थे !

गुरुदेवश्री की बातों में विशेषता तो यही रहती थी कि मिष्टान्न से अधिक 'कद' औषधि का रहता !

रुक्मी राजा, अनाथी मुनि, तरंगवती, सुलसा, अंजना, सीताजी... आदि अनेकविध कथाओं के माध्यम से गुरुदेवश्री ने, हमारे मुख से 'अद्‌भुत' शब्द निकल पड़े, इस प्रकार मनमोहक तत्त्वचिंतन का निरूपण किया है।

तमाच ! महासती सीताजी के जीवनचरित्र के आधार पर इस पुस्तक का आलेखन हुआ है। सती सीताजी के जीवन में विभिन्न दौर में जीवन का सही अभिगम कौन-सा है? यह बातें गुरुदेवश्री ने अति रोचक पदार्थों द्वारा समझायी है।

सती सीताजी के जीवन पर आधारित, प्रकाशित किये गये अनेक पुस्तक-कृतियाँ पढ़ने-देखने का अवसर प्राप्त हुआ है, किन्तु गुरुदेवश्री ने जैसी तत्त्वदृष्टि से सती सीताजी का जीवनचरित्र देखा है और तत्त्व-अमृत कलम से पुस्तक में तात्त्विक आलेखन किया है, वह देखते हुए गुरुदेवश्री की तत्त्वोन्मेष प्रज्ञा के आगे मस्तिष्क झुक जाता है।

'दिव्यदर्शन' साप्ताहिक में क्रमबद्ध प्रकाशित किया गया सीताजी चरित्र अब नये नाम, नये रूप एवं नये आकार के सहित स्वतंत्र पुस्तक के स्वरूप प्रकाशित हो रहा है !

परम पूज्य सिद्धान्त दिवाकर, सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय **जयघोष सूरीश्वरजी महाराजा** के जन्मोत्सव के भाग रूप पूज्य गुरुदेवश्री के पुस्तकों पर ओपन बुक एक्झाम का आयोजन हो रहा है। गुजराती और हिन्दी से भी आगे बढ़कर अब अंग्रेजी भाषा में भी पूज्य गुरुदेवश्री का साहित्य प्रकाशित हो रहा है, यह बात आनंददायी है।

लगातार पाँचवे साल ओपन बुक एक्झाम के आयोजन में इस वर्ष **तमाच** पुस्तक प्रकाशित हुआ है। तत्त्वजिज्ञासु आत्मा ऐसा तत्त्वसमृद्ध साहित्य का पठन-मनन कर आत्मविशुद्धि प्राप्त करें, यही मंगल कामना।

लि.
कुमारपाल वी. शाह
कलिकुंड, धोलका

युग परिवर्तक

सदियों में कभी-कभार ही ऐसे कोई पुरुष अवतरित होते हैं, जिनकी सिद्धि के मधुर परिणाम सदियों तक लोगों को याद रहेंगे।

परम पूज्य वर्धमान तपोनिधि, न्याय विशारद, आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानु सूरीश्वरजी महाराजा !

जैनधर्म जब १९वीं सदी से २० सदी में आगे बढ़ रहा था, तब इन युगपुरुष ने युग परिवर्तन का शंखनाद कर एक नयी क्रांति लायी । २०वीं सदी के फास्ट ट्रेक पर दौड़ती-भागती दुनिया को एक क्षण के लिए स्थगित कर दे, ऐसा एक महा सिंहनाद किया ।

इनका संसारी नाम कांति था । इंग्लेन्ड में G.D.A. (C.A. समान ही) डिग्री फर्स्ट क्लास पास करने के बाद इन्होंने २२ वर्ष की उम्र में सगे भाई पोपट के साथ जैनदीक्षा स्वीकार की ।

जैनधर्म की कठिन और कठोरतम साधना का पालन करने के साथ-साथ सघन शास्त्राभ्यास किया । जैनागमों के साथ-साथ अन्यधर्मों का तलस्पर्शी अवगाहन भी किया । अभ्यास हेतु ज्यादा से ज्यादा समय मिले इसलिए ये महापुरुष छट्ठ के पारणे छट्ठ (यानि हर तीसरे दिन मात्र एक बार भोजन) करते थे !

अपने गुरुदेव पू. श्री प्रेमसूरीश्वरजी महाराज के मंगल आशीर्वाद लेकर, **वि.सं. २००५** में मुंबई पधारें । इनके प्रवचनों ने युवकों पर जादुई असर किया। मोह-माया की नगरी के भोग-विलासी श्रीमंतों के घर के लोगों को इनका एक प्रवचन वैराग्य में डूबों देता । जिस समय दीक्षा होना दुष्कर गिना जाता था, उस २०वीं सदी के पहले ही दशक में इन युगपुरुष ने परिवर्तन का महायज्ञ प्रारंभ कर दिया । मात्र पाँच वर्ष में ३५ युवक इनके शिष्य बनें, और जब इन महान युगपुरुष ने देहत्याग किया, तब २५० से ज्यादा सुयोग्य शिष्य के गुरुपद पर बिराजमान थे !

अपने प्रवचन से इन्होंने सदा ही श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध किया । **वि.सं. २००८** दिव्यदर्शन साप्ताहिक पत्र शुरू करके वाचकों के हृदय तक जैन तत्त्वज्ञान सरलतापूर्वक पहुँचाने का भगीरथ कार्य किया । यह साप्ताहिक पत्र ४२ वर्षों तक चला। जिसका समग्र संकलन 'भुवनभानु एन्साइक्लोपीडिया' के नूतन संस्करण में संमिलित किया गया है ।

वि.सं. २०११ वर्ष के दरमियान जब पूना में थे, तब मोरारजी देसाई की सरकार में बालदीक्षा के विरोध में प्रस्ताव चालु हुआ, तब तत्काल ही मोरारजी देसाई से मिलकर जैनदीक्षा का स्वरूप और उपयोगिता समझाकर मोरारजी को भी बालदीक्षा के समर्थक बना दिये ! अपनी तार्किकता, विद्वत्ता और पुण्य का प्रताप दिखाया । बालदीक्षा करनी चाहिये या नहीं ? यह फैंसला जब जनमत पे सौंपा गया, तब इस युगपुरुष ने अपनी असरकारक जबान और वेधक लेखनी के माध्यम से बालदीक्षा के समर्थन में जबरदस्त माहौल खड़ा किया। उसका परिणाम? बालदीक्षा के विरोध में ५०,००० मत भी नहीं थे, जबकि समर्थन में ३,००,००० से भी ज्यादा मत थे।

संयमित जीवन, जिनाज्ञा को समर्पित वर्तन, अनेकों को संयम देने के साथ-साथ उन शिष्यों का ध्यान रखना, प्रवचन, लेखन, चिंतन, वगैरह अनेक कार्यों की व्यस्तता के बावजूद भी जन-समाज को इन युगपुरुष ने कभी नजरअंदाज नहीं किया। आज-कल के युवकों को धर्माभिमुख बनकर संतोषी और सुखी जीवने कैसे जी सके? इसके लिए उन्होंने एक मौलिक प्रयोग भी किया। जिसका नाम है : शिबिर। आज जो युवक धर्म के प्रति श्रद्धालु और संसार के प्रति संतोषी-सुखी दिखता है, उसमें शिबिर का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

१९वीं शताब्दी के आखरी दशक में दीक्षा स्वीकार कर इस युगपुरुष ने २०वीं सदी के प्रथम दशक में जो परिवर्तन की क्रांति सृजन किया उसका वर्णन शब्दों में करना तो अन्याय ही होगा !

उनके पुरुषार्थ को देखकर ऐसा कह सकते है : उन्होंने एक जीवन में अनेक जिंदगी जी ली थी !

उनकी सिद्धि को देखकर ऐसा कह सकते है : वे 'जेक ओफ ओल' नहीं, पर 'मास्टर ओफ ओल' थे ।

अनुक्रमणिका

१. धर्मकथा का प्रभाव १

२. सीताजी का चारित्रनिर्धार ९

३. तीन तमाच १९

४. ... मगर शील न जाये २९

५. साधनात्रयी ४०

६. दिव्य संदेश ५०

७. सक्रिय धर्ममता ६३

८. विशेषता : आमन्या + गौरव ७२

९. महानता : धिक्कारने वाले पर भी सद्भाव ७९

१०. सत्त्वशील सीताजी ९४

११. वनवास : कर्तव्यपालन १०८

१२. स्थितप्रज्ञता ११२

१३. पुनरावर्तन १२३

१४. कर्म की तमाच १४२

१. धर्मकथा का प्रभाव

'चिरसंचियपाव–पणासणीइ, भवसयसहस्स–महणीए ।
चउवीसजिण–विणिग्गयकहाइ, वोलंतु मे दियहा ।।'

जिनशासन में श्रावक जीवन के दैनिक कर्तव्यों में की जाने वाली एक पवित्र आवश्यक क्रिया है : 'प्रतिक्रमण' । 'प्रतिक्रमण' का मुख्य सूत्र है : 'वंदित्तु सूत्र' ।। वैशाख–सुद ११ के दिन प्रभु श्री महावीर स्वामी ने शासन की स्थापना की और गणधर भगवंतों को त्रिपदी भी प्रदान की । उसी त्रिपदी के आधार पर गणधर भगवंतों ने मात्र अंतर्मुहूर्त में द्वादशांगी की रचना की; इसमें से ही चौदह 'पूर्व' शास्त्र की रचना हुई । कितना अगाध ज्ञान !

कितना अनमोल होगा वह क्षण; जब गणधर भगवंतों के हृदय की गहराई से अगाध अनन्य द्वादशांगी और चौदह 'पूर्व' स्फुरीत हुए होंगे ! इन्हीं अनमोल क्षणों में 'वंदित्तु सूत्र' सहित आवश्यक सूत्र भी स्फुरीत हुए । तो अब बताइये कि इन आवश्यक सूत्रों का हर अक्षर, हर पद कितना अनमोल है ! कितना महत्त्वपूर्ण और अमूल्य ! और उसी में रचे गये 'वंदित्तु सूत्र' के प्रत्येक पद का महत्त्व कितना ? अमूल्य ! अतुल्य !

'गुणवंता गिरुआ, वाणी मीठी रे गणधर तणी'

इसी कारण वंदित्तु सूत्र की 'चिरसंचिय...' गाथा एक अद्‌भूत रचना है । उसका कितना महत्त्व होना चाहिये हमारे लिए ? कितना बड़ा दायित्व हुआ हम पर... ? गणधर भगवंत द्वादशांगी और विशाल चौदह पूर्व के रचयिता है । उनके श्रीमुख से निकले वचन अनावश्यक या अयोग्य तो कभी हो ही नहीं सकते, उनके वचन महागंभीर और अर्थपूर्ण ही होते है ।

उन्होंने इस 'चिरसंचिय' गाथा के उच्चारण के द्वारा इसमें कितने गहरे भाव भरे होंगे ? कितना महत्त्व होगा इस गाथा का?

इस गाथा का अर्थ यह है : 'दीर्घकाल से एकत्रित पापों को नष्ट करने वाली और लाखों भवों का मंथन करनेवाली चौबीस जिनेश्वरों के श्रीमुख से निकली धर्मकथाओं में मेरे दिन व्यतीत हो।'

श्रावकों के हृदय में ऐसी भावना बनी रहती है और मन में होता है कि, 'क्या प्रभाव धर्मकथाओं का ! धर्मकथा का थोड़ा भी श्रवण दीर्घकाल के पाप को तोड़ देने में समर्थ है !'

प्रश्न : क्या धर्मकथाएँ इतनी शक्तिशाली है ?

उत्तर : हाँ बिलकुल ! इसके दो कारण है :

(i) श्री तीर्थंकर प्रभु ने अर्थ द्वारा और गणधर भगवंतों ने सूत्र द्वारा धर्मकथाओं की यही फलश्रुति कही है कि, 'धर्मकथाएँ दीर्घकाल के पापों का नाश कर सकती है और लाखों भवों की परंपरा को भी नष्ट करने में समर्थ है।' फिर जिनेश्वर देव के वचनों पर शंका करने का प्रश्न ही कहाँ रहा कि 'क्या धर्मकथाओं में इतनी ताकत है ?'

(ii) इसका दूसरा कारण यह भी है कि धर्मकथाएँ महापुरुषों के आत्म-पराक्रम को ऐसी रोचक शैली में वर्णन करती है, जिसके श्रवण से श्रोताओं के हृदय में भव्यातिभव्य भाव जागृत होते हैं और भव्य शुभ अध्यवसाय प्रगट होते हैं। शुभ अध्यवसायों और शुभ भावों में इतनी ताकत होती है कि वह दीर्घकाल से एकत्रित किये हुए पापकर्मों को नष्ट कर दे ! अब शायद यह प्रश्न भी होगा कि,

अल्पकाल के शुभभावों से दीर्घकाल से उपार्जित पापकर्म कैसे नष्ट हो सकते हैं ? :

प्रश्न : पापकर्म तो दीर्घकाल की अशुभ प्रवृत्तियाँ और अशुभ अध्यवसायों से एकत्रित हुए है, तो इनका नाश अल्प समय की धर्मकथाओं के श्रवण से कैसे किया जा सकता है ?

उत्तर : अल्पकाल के शुभ अध्यवसायों की यह ताकत स्वीकारनी ही पडेगी। अन्यथा 'आत्मा ने जितने दीर्घकाल तक अशुभ अध्यवसाय किये है,

उतने ही दीर्घकाल तक शुभ अध्यवसाय करने पर ही वो पूर्वकृत कर्म नष्ट होंगे,' ऐसा नियम करेंगे, तो फिर आत्मा कभी भी संपूर्णतया कर्म से मुक्त होकर मोक्ष पा ही नहीं सकेगा। क्योंकि आत्मा पर जो पापकर्म है, वो पूर्व के असंख्य काल की अज्ञानता, अविरति और कषायादि के फलस्वरूप ही है। तो अब उन्हें नष्ट करने के लिए उतने ही असंख्य काल तक विरति और उपशम भावना से भरे शुभ अध्यवसाय करने होंगें; पर इतना समय ही कहाँ है ?

किस अवतार में इतने दीर्घकाल तक यह विरतिआदि के शुभ अध्यवसाय हो पायेंगे ? ऐसा कोई अवतार है ही नहीं।

- असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के भव में मिथ्यात्व-अविरति आदि अशुभ अध्यवसाय स्वाभाविक ही पाये जाते हैं, तो वहाँ ऐसे उत्कृष्ट शुभ अध्यवसाय कैसे ला पायेंगे ? नामुमकिन है।

- संज्ञी पंचेन्द्रिय देव-नारकादि के भव में असंख्य काल का आयुष्य होता है, परंतु यह अवतार भी क्रमबद्ध या लगातार प्राप्त नहीं हो सकते। एक भव में भी सम्यक्त्व तक के शुभ अध्यवसाय तक पहुँच सकते है, किन्तु उससे आगे के विरतिभाव और पूर्ण उपशम भावों तक पहुँच पाना संभव ही नहीं है। इसी कारण पूर्व दीर्घकाल तक के एकत्रित हुए और इस अवतार में भी असंख्य काल तक सेवन किये हुए अविरति और कषायों के अशुभ भावों के कारण जो कर्म बंधते है, वह इतने ज्यादा होते हैं कि अन्य कौन-से उतने ही दीर्घकाल तक का भव है, जिसमें विरतिभाव और उपशम भावों द्वारा नष्ट किये जा सके ? कोई भव नहीं !

- जब, असंख्य वर्ष के मनुष्य और तिर्यंच के अवतार मिलते है, तब भी वहाँ विरति भाव और वैसा ही पूर्ण उपशम भाव नहीं आ पाते, अतः वहाँ भी पूर्व दीर्घकाल तक के एकत्रित समस्त पापकर्मों को तोड़ने का अवकाश मिल ही नहीं पाता। संख्यात वर्ष के आयुष्य वाले तिर्यंच के भवों की बात करें तो, वे भी सर्वविरति के भाव पा ही नहीं सकते। वहाँ पर भी पूर्व दीर्घकाल के अविरति आदि से बंधे पापकर्म का संपूर्णतः नाश हो पाना संभव ही नहीं होता।

- अब बचा संख्यात वर्ष के आयुष्य का मानव अवतार ! यहाँ पर ही सर्वविरति भाव और संपूर्ण उपशम होना संभव है पर यदि पापकर्म बाँधने का काल और पापों के नष्ट होने का काल; इन दोनों के काल की तुलना का यदि ऐसा कोई नियम हो कि 'जितने दीर्घ असंख्य काल तक अशुभ भावों से पापकर्म बांधे गये, उतने ही दीर्घ असंख्य काल तक के शुभ भावों से पापकर्म नष्ट हो पायेंगे' तब तो मात्र संख्यात वर्ष के मनुष्यावतार में पूर्व के असंख्य काल के एकत्रित पापकर्मों को नष्ट करने का अवकाश ही कहाँ ? और इन पापकर्मों को बिना नष्ट किये मोक्ष कैसे मिल पायेगा ?

सारांश यही है कि, 'जितने दीर्घकाल तक के अशुभ अध्यवसाय, अशुभ भावों द्वारा अज्ञानता पूर्वक पापकर्मों को संगृहित किया है, उतने ही दीर्घकाल तक के शुभ अध्यवसाय, शुभ भाव द्वारा उन संगृहित पापकर्मों का नाश हो सकेगा' यह नियम गलत है । अन्यथा किसी भी जीव को कभी मोक्ष प्राप्त ही नहीं होगा । जीव का मोक्ष होता ही है; यह एक हकीकत है और हकीकत यह भी है कि बिना सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट किये मोक्ष असंभव है । मोक्ष का अर्थ यही है कि सर्व कर्मों से मुक्ति, सर्व कर्मों का क्षय, सभी कर्मों से छुटकारा; उपरोक्त नियम बना रखने से किसी भी जीव का मोक्ष होगा ही कैसे ?

पूर्वोक्त चर्चा पर चिंतन करते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्व कर्मों का क्षय तब ही संभव है, जब अल्पकाल के शुभ अध्यवसायों, शुभ भावों में यह शक्ति हो कि वह दीर्घ असंख्य काल से एकत्रित पापकर्मों को नष्ट कर सके ।

शायद आपके मन में अब यह प्रश्न उठें कि ...

प्रश्न : दीर्घकाल तक किये अशुभ भावों से उपार्जित कर्मों का, अल्पकाल के शुभ भावों द्वारा नष्ट हो जाना; क्या यह अविश्वसनीय, अयोग्य सा नहीं लगता ?

उत्तर : यदि कुदरत के नियमों को भी समझ लेंगे, तो यह बात अविश्वसनीय, अयोग्य नहीं लगेगी । इसके उदाहरण देखे :

अल्प सी दिखनेवाली वस्तु से महान विध्वंस के उदाहरण :

१. ग्रीष्मकाल के ३-४ महिनों की भयंकर ताप से तपती धरती और भयंकर उष्ण वातावरण, मात्र चार दिनों की मुसलधार बरसती वर्षा से ठंडे पड जाते हैं ।

२. कई वर्षों की महेनत से उगा कर बढ़ाया घास का बडे से बडा ढेर भी सिर्फ अल्प अग्नि के संयोग से जल कर खाक हो जाता है ।

३. किसी सच्चे संत की अद्‌भुतवाणी के प्रभाव से दीर्घकाल से चली आ रही वैर-परंपरा; हृदय परिवर्तन के कारण मित्रता में परिवर्तित हो जाती है ।

४. अनंतानंत काल तक सेवन किये लोभ को किसी महान संत के अल्पकालीन सत्संग-उपदेश श्रवण से जागृत हुए वैराग्य और भव-भ्रमण का भय तहस-नहस कर डालता है ।

५. एक ईमारत का सर्जन करने में कितना समय व्यतीत होता है, पर उसके विसर्जन में ... ? अल्प समय ही काफी है ।

इसी प्रकार, शुभ अध्यवसायों की इस ताकत से ही अपनी आत्मा का कैसा शीघ्र अभ्युदय होता है ? यह मरुदेवी माता, भरत, बाहुबली, सुदर्शन सेठ, नागकेतु... वगैरह महान विभूतियों के जीवन-दर्शन से समझ में आ ही जाता है ।

इसलिए ऐसे उच्च मानव-जीवन में हृदय को शुभभावों से हरा-भरा रखना चाहिये । उसमें भी विशेषतः मैत्री आदि भाव, जिनभक्ति व वैराग्य के अध्यवसाय हृदय में उछलते-उछलते ही रहे; यह अति आवश्यक है । इसका मुख्य कारण यह है कि ...

हृदय में जो अशुभ अध्यवसाय उठते है, वे अधिकांश मैत्री आदि, जिनभक्ति और वैराग्य के शुभ भावों को गँवाने के कारण ही उठते है ।

जबकि, महापुरुषों के जीवन को सुनते-पढ़ते है, तो यह नजर आता है कि उनमें वैराग्यभाव, करुणाभाव व मैत्रीभावादि कितने ज्यादा विकसित और उच्चस्तर के थे ! उन्होंने अपने हृदय को इन उत्तम शुभ भावों से कितना भीगा-भीगा रखा होगा कि जिससे उनकी वृत्ति और प्रवृत्ति उत्तमोत्तम बनी रही थी । उत्तम विचारधारा, उत्तम भाषा और उत्तम व्यवहार ! अर्थात् मन, वचन और काया; सभी उत्तम !

यह सब हमें इन महान विभूतियों के जीवन चरित्र से जानने को मिलता है । बार-बार पढ़ने-सुनने से इसका हमारे हृदय पर गहरा प्रभाव पडता है; हृदय से शुभ भावों की तरगें उठती है । इसीलिए 'चौबीस तीर्थंकर भगवान के श्रीमुख से निकलने वाली धर्मकथाएँ में मेरे दिन व्यतीत हो' ऐसी भावना श्रावक सदैव

ही रखते है, क्योंकि इससे जो शुभ भाव, शुभ अध्यवसाय हृदय में उमड़ते है, इसके फल स्वरूप हमें महत्त्वपूर्ण दो चीजें प्राप्त होती हैं :

शुभभावों के दो फल :

(१) दीर्घकाल तक के एकत्रित पापकर्मों का नाश, और
(२) लाखों भवों की भव-परंपरा पर कटौती ।

उपरोक्त में से प्रथम फल पर हमने विचार किया । अब दूसरे फल पर विचार करते है । 'पंचसूत्र' शास्त्र कहता है कि, **'शुभ भावों से पूर्व के अशुभ अनुबंध टूट जाते है ।'**

अशुभ अनुबंध अर्थात् अशुभ भाव; अशुभ भाव यानि हिंसादि की दुर्बुद्धि, रागादि कषाय, दुर्ध्यान, असमाधि आदि को जागृत करनेवाली बीज-शक्ति ।

पूर्व के भवों से ही हम ऐसी बीज-शक्ति अर्थात् ऐसे भरपूर अशुभ-अनुबंध लेकर आये हैं, जिसके प्रभाव से दुर्बुद्धि यानि हिंसा, झूठ, अनीति आदि पापबुद्धि, रागादि कषाय और आर्तध्यानादि भाव बार-बार जागृत होते हैं । अशुभ अनुबंध की जड़ से ही ऐसे अशुभ भाव अंकुरित होते है, और उसके फलस्वरूप हमारी भव-परंपरा बढ़ती जाती है ।

तब जाकर यदि हम बार-बार इन धर्मकथा का श्रवण करके अपने शुभ भावों को सदैव जागृत रखकर इन अशुभ अनुबंधों को तोड़ दें, तो यह पापबुद्धि, कषायादि जागृत हो ही नहीं पायेंगे और फिर इससे भव-परंपरा भी नहीं बढ़ेगी । बल्कि, अहिंसा-सत्यादि धर्मबुद्धि, क्षमा-नम्रता-वैराग्यादि उपशम भाव और सद्विचार, शुभ ध्यान इत्यादि जागृत रहने से भव की परंपरा घटती ही जाएगी ।

शुभ भावों द्वारा भव परंपरा कैसे घटती है ? :

यह तो हकीकत ही है कि सामान्यतः...

- जब दुर्गति का भव मिलता है, तो वहाँ पर पापबुद्धि, पाप-कार्य और राग-द्वेषादि कषायिक भावों भरपूर जागृत होने ही वाले हैं । इसके विपरीत...
- यदि सद्गति का भव मिलता है, तो सद्बुद्धि-धर्मबुद्धि-धर्मप्रवृत्ति और वैराग्यादि के भावों का होना भी स्वाभाविक ही होगा । इन भावों की सुलभता होगी ही ।

अब यदि हम शुभ अध्यवसाय करते-करते शुभ अनुबंध अर्थात् पुण्यानुबंधी पुण्य उपार्जित करें तो, उसके फल-स्वरूप सद्गति का अवतार भी मिलेगा ही, और सद्गति के अवतार में धर्मबुद्धि, धर्मप्रवृत्ति की सुलभता भी प्राप्त होगी ही। धर्मबुद्धि, धर्मप्रवृत्ति से सद्गति और सद्गति से धर्मबुद्धि, धर्मप्रवृत्ति की सुलभता... इस अमृतचक्र से सद्गति की परंपरा शुरू हो जाएगी और अनादि से चली आती दुर्गतिमय दीर्घ भवपरंपरा का अंत हो जाएगा। इस तत्त्व को ध्यान में रखकर ही कहा गया है कि,

'शुभ अध्यवसायों से भव की परंपरा तोडी जा सकती है।'

भव की बक्षीस :

इस जगत में जीव को कुदरत की बक्षीस है कि सामान्यतः,

- सद्गति के भव में धर्मबुद्धि और धर्मकार्यों की सुलभता।
- दुर्गति के भव में पापबुद्धि और पापकर्मों की सुलभता।

अर्थात् एकबार यदि दुर्गति में पटक गये, तो समझ ही लो कि वहाँ सहज ही हिंसा-कषायादि पापबुद्धि, पापकार्यों, राग-द्वेष वगैरह पापभावों में ही रुलना-रगडना होगा, तब उसके फल-स्वरूप आपको कैसा भव प्राप्त होगा ? दुर्गति का ही ना... ? फिर वहाँ वृत्ति-प्रवृत्ति कैसी... ? वही पापबुद्धि और पापकार्य की ही। इस विषचक्र से तो दुर्गति के भवों की परंपरा बढ़ती गई !

इसी के विपरीत विचार करें तो,

यहाँ मिले मानवभव-सद्गति के अवतार में धर्मबुद्धि अर्थात् अहिंसादि धर्म करने की बुद्धि और राग-द्वेषादि दोषों का निग्रह, क्षमादि शुभ भावों से आत्मा को भावित रखेंगे। उसके लिए जिनभक्ति-साधु भगवंतों की सेवा-जिनवाणी श्रवणादि शुभक्रिया और दान-शील-तपादि सुकृतों का सेवन करते रहने से फिर से सद्गति में जन्म निश्चित कर लेंगे; सद्गति में फिर वही सद्बुद्धि, सत्प्रवृत्ति और शुभ भावों को बनाए रखने का माहौल मिलेगा, और शुभ भावों आदि रखने से फिर सद्गति का अवतार निश्चित हो जाएगा... इस प्रकार सद्गति की परंपरा चलती रही तो दीर्घ संसार-भवपरंपरा का स्थान ही नहीं रहेगा।

तभी तो ज्ञानी भगवंत हमें बार-बार सावधान करते हुए यह चेतावनी देते है कि, **'दुनियाँ के असार पदार्थों की खातिर हृदय मत बिगाडों ! हृदय में अशुभ भाव का कूड़ा-कचरा मत डालों ।'**

अन्यथा, अशुभ भावों से हृदय बिगड़ कर एकबार भी दुर्गति में चल बसे, तो फिर वहाँ और भवांतर में भी दीर्घकाल तक आत्मा के उद्धार का अवकाश ही नहीं रहेगा । क्योंकि उस दुर्गति के अवतार में पापबुद्धि और पापकार्यों की ही सुलभता होगी, तो उसके फल-स्वरूप भवांतर में भी दुर्गति के अवतारों का ही सर्जन होगा ।

इसीलिए दुनियाँ के भौतिक पदार्थों की मोह-माया मत रखों और संसार की भौतिक प्रवृत्तियाँ में राचे-माचे मत बनों, वरना इसके कारण पहले आपके हृदय के भाव बिगडेंगे और फिर भव परंपरा भी !

इसीलिए 'चिरसंचिय' गाथा में श्रावक का परम कर्तव्य बताया है कि 'श्रावक अपने हृदय में सदैव ऐसी भावना बनाये रखें कि, परमात्मा के श्रीमुख से निकली धर्मकथाओं में दिन व्यतीत हो ।' इसी भावना से ही श्रावक नियमित इन धर्मकथाओं को पढ़ने-सुनने का नियम बना लेगा । इसीलिए हम यहाँ पूर्व के प्रभावक पुरुषों की यशोगाथा अर्थात् उनके जीवन के उत्तम प्रसंगों पर चिंतन करेगें ।

२. सीताजी का चारित्रनिर्धार

अब हम महासती सीताजी के जीवन के उत्तम प्रसंगों को देखेंगे । उनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण एक प्रसंग कुछ ऐसा है :

सीताजी ने 'दिव्य' किया – अग्नि परीक्षा दी; तब अग्नि का विशाल अग्निकुंड जलभरे सरोवर में बदल गया ।

अब श्रीराम और लक्ष्मण आदि सीताजी से विनंति करते है : 'चलों ! अयोध्या चले ! आपके सर्व दुखों का अब अंत हुआ । अब महल में सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करों ।'

तब भी महासती सीताजी के मन में एक क्षण के लिए भी ऐसा विचार नहीं आया कि, 'चलों ! दुःख के दिन बीत गये, अब तो आराम से महलों में आनंदमंगल मनायेगें । प्रजाजनों में भी मेरा यश खूब बढ़ गया है और सन्मान-सत्कार भी ज्यादा मिलने लगे है । हाश ! अब सुख-चैन से जीवन जीने का मौका आ गया है !' नहीं, इनमें से एक भी सोच-तनिक सा भी विचार महासती सीताजी के मन में नहीं उठता है । अब तो उन्हें इस पापमय संसार का त्याग करके कष्टमय चारित्रजीवन जीने के कोड उठे है । अतः सीताजी रामचन्द्रजी से कहते है : 'अब मैं वापस नहीं आऊँगी अयोध्या नगरी में । मैं तो चारित्र के पथ पर प्रस्थान करूँगी ।'

रामचन्द्रजी कहते हैं : 'अरे, अब ये कौन-सी बात ? माना कि हमने आपका बड़ा गुना किया है, आप पर अपकार बरसायें हैं; फिर भी आप हृदय विशाल रखकर हमें क्षमा कर दें ।'

सीताजी बोलें : 'आप ये कैसी बातें करने लगें ! अरे, आप और अपकारी ? नहीं, आप तो मेरे महान उपकारी हो !'

'इस प्रकार ताने ना मारो ।' रामचन्द्रजी दुःखी होकर कहते है ।

सीताजी कहते हैं : 'जरा भी ताना नहीं मारा, स्वामी ! यह हकीकत बता रही हूँ। आप मेरे उपकारी इस प्रकार से हो - आप मेरे हृदय में बसे थे, इसलिए अग्निकुंड भी जल सरोवर बन गया। मेरे हृदय में यदि आप के अलावा कोई ओर होता, तो आग का पानी नहीं, पर यह सीता का भस्म हो जाता। मेरे हृदय में एकमात्र आपके बसने के प्रताप से ही आग भी पानी हो गई, में भी भस्म बनते बच गई; यह आपका उपकार क्या कुछ कम है ?'

सीताजी की कैसी कृतज्ञ दृष्टि !

हमें यह प्रसंग से बोधपाठ लेना चाहिये कि,

प्रभु के परम उपकार :

यदि हम अपने हृदय में अरिहंत परमात्मा को स्थापित करते हैं तो,

(१) स्थिर चित्त से महान धर्मक्रियाएँ हो सकती है।
(२) धर्मसाधना एवं क्षमादि गुणों के साधना की प्रेरणा मिलती है।
(३) शुभ अध्यवसाय और शुभ भावनाएँ उल्लसित बनती हैं।
(४) पुण्यानुबंधी पुण्य (शुभ अनुबंध) की कमाई होती है।

इत्यादि लाभ यदि प्रभु हमारे अतंर मन में बसे हो, तो मिलते हैं। यह सब लाभ पाने में प्रभु का परम उपकार है। इसलिए 'प्रभु मेरे परम उपकारी है' यह अपनी दृढ मान्यता होनी चाहिये।

यह मान्यता यदि हमारे मन में दृढ बसी हो - प्रभु को परम उपकारी माने हो, तो फिर हम जो कुछ भी सुकृत करते है, उस पर लेशमात्र भी गुमान नहीं होगा। बल्कि, हम थोड़ा भी जो सुकृत कर सकें, उसमें प्रभु का परम उपकार मानकर, कृतज्ञता के रूप में प्रभु की कुछ न कुछ सेवा करने का भाव होगा, कुछ न भी कर सके, तो भी स्मरण करके वंदन तो होगा ही होगा।

देखिये, प्रतिक्रमण सूत्र 'वंदित्तु सूत्र' की आखरी गाथा में 'वंदामि जिणे चउवीसं' लिखा है। यानि 'चौबीस जिनेश्वरों को मैं वंदन करता हूँ।' क्यों यह वंदना ? क्योंकि पापों की आलोचना-निन्दा-गर्हा-संताप हुए, प्रापश्चित हुआ, उसमें प्रभु का परम उपकार है। इसलिए कृतज्ञता के जरिए कम-से-कम वंदना तो करनी ही होगी।

प्रभु का उपकार कहाँ नहीं है ? प्रभु से ही तो यह शासन पाया, मोक्ष का मार्ग पाया, मोक्षमार्ग की साधना पायी, यहाँ तक कि हम हररोज सुबह अरिहंत दर्शन का लाभ लेते है, उसमें भी प्रभु का ही परम उपकार है, क्योंकि प्रभु ऐसे 'अरिहंत' बने, तो ही तो हमें 'अरिहंत दर्शन' का लाभ मिलता है ! इसलिए प्रभुदर्शन में भी प्रभु ही परम उपकारी है ।

दर्शन करते वक्त भी ऐसा भाव उमड़ना चाहिये कि : 'अहो ! अहो ! प्रभु ! आप अरिहंत बने, तो ही तो मैं आज अरिहंत दर्शन का महान लाभ पा रहा हूँ । कितना बड़ा उपकार प्रभु आपका !'

इसी प्रकार से, स्तुति, अभिषेक-तिलक-धूप-दीप-आदि पूजा, चैत्यवन्दन वगैरेह इन सबमें प्रभु का परम उपकार मन में माना जाये ! और कृतज्ञता से प्रभु की सेवा में-भंडार में कुछ-न-कुछ द्रव्य का समर्पण सहज ही हो जाये ! अपनी आत्मा को निगोद से निकालकर यहाँ मनुष्यभव तक पहुँचाने तक प्रभु के उपकार याद आते ही रहें !

पहला उपकार तो यह कि हमें उत्तम मानवभव मिला । क्योंकि गतजन्म में प्रभु को हृदय में स्थापित कर के शुभ भाव रखा, अच्छे सुकृत किये, इससे पुण्यबंध हुआ, और पुण्य के परिपाक से यह उत्तम भव मिला, आरोग्य मिला, पाँच इन्द्रिय परिपूर्ण मिली, खान-पान-दाम-ठाम... सब कुछ मिला, समझदारी और कार्यकौशल्य भी मिला... इन सबमें इसी तरह प्रभु परम उपकारी है, अतः बार-बार प्रभु का उपकार याद करते रहे ।

प्रभु को द्रव्यसमर्पण; क्या प्रभु पर उपकार ?

यदि हृदय से प्रभु के उपकार याद करते रहे, तो प्रभु की सेवा में कृतज्ञता स्वरूप कितना द्रव्य अर्पण करते रहेंगे हम ? इसमें भी खास तौर पर ध्यान में रहे कि प्रभु की सेवा में हम जो भी द्रव्य अर्पित करते हैं, वह प्रभु के उपकार के प्रति कृतज्ञता भाव व्यक्त करने के लिए है, नहीं के प्रभु पर एहसान करने के लिए । वहाँ अभिमान नहीं रखना चाहिये कि, 'मैंने प्रभु की आंगी रचाई,' 'मैंने मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया,' 'मैंने मंदिर के लिए चांदी का दरवाजा भेट दिया...' यह सारे गुमान गलत है ।

एक समझदार लड़का अपने पिता के लिए कुछ भी सुविधा या खर्च करता है, तो वह उसे पिता पर किया उपकार नहीं मानता, बल्कि पिता के उपकारों के प्रति कृतज्ञता बजाई; ऐसा समझता है ।

एक सयाना बेटा अपने पिता के कमरे में रंग-रौगान करवा दे, तो गुमान नहीं रखता कि, 'मैंने पिताजी के कमरे में रंग-रौगान करवाया ।' एवं कमरे पर तख्ती नहीं चिपकाता कि, 'इस कमरे का रंगकार्य इस सुपुत्र ने करवाया है ।' क्योंकि सुपुत्र समझता है कि, 'इसमें मैं कुछ उपकार नहीं कर रहा हूँ । पिताजी ने मुझ पर इतने सारे बड़े-बड़े उपकार किये है, उनकी तुलना में मैंने जो किया, वो कुछ गिनती में भी नहीं आता । और, पिताजी पर उपकार करनेवाला मैं कौन ? तख्ती भी कैसी ? बाहर दुनिया के सामने ढिंढोरा भी किस बात पर ? अरे, मैं तो पिताजी ने मेरे पर किये हुए उपकारों को स्मरण करते-करते सिर्फ मेरी कृतज्ञता निभा रहा हूँ, उसमें कैसी तख्ती ? और कैसा ढिंढोरा ?'

बस, इसी तरह - सयाना सुपुत्र की तरह प्रभु के भी अनन्त उपकार आदि हमें याद आते रहेंगे, तो धन का सुकृत करके तख्ती लगवाने की इच्छा ही खत्म हो जाएगी ।

आज तो तख्ती लगवाने की मानो कि 'फेशन' चल पड़ी है ! जैसे कि सारी दुनिया प्रभु पर उपकार करने को निकल पड़ी है ! प्रभु के पबासण में या तो मंदिर के दरवाजे पर तख्ती पर तख्ती लगवाते रहते है; कितना शर्मजनक है यह सब ? अरे, भले आदमी ! प्रभु पर उपकार करनेवाला तूँ है कौन ?

हमारे मन में यदि इतनी-सी बात बस जाये कि, 'प्रभु के उपकार इतने सारे है कि उसके सामने मैंने जो किया है उसका कुछ महत्त्व ही नहीं है । मैं तो जो कुछ भी थोड़ा-सा भी कर रहा हूँ, वह तो सिर्फ प्रभु के कृतज्ञ सेवक होने के नाते कर रहा हूँ । समुद्र में डाले हुए पानी की दो बूँद की कुछ बिसात ही नहीं है ! दो बूँद जितनी भी सेवा करने का मुझे अवसर मिल रहा है; वह मेरा अहोभाग्य है । बाकी तो, अरिहंत प्रभु के प्रभाव से तो निगोद से निकलकर आज मैं मनुष्यभव की इस ऊँचाई पर पहुँच पाया हूँ, और यहाँ धर्म समझ से कितने भयंकर दोष एवं पापकृत्यों से बच गया हूँ; ऐसे प्रभु के उपकार का मूल्यांकन ही कैसे हो पायेगा ? उनके उपकार अमूल्य है ।'

ये अनन्त उपकार ध्यान में रखने जैसे है, जिससे कृतज्ञता के कारण हमारे तन-मन-धन को अरिहंत प्रभु की सेवा में निःस्वार्थ भाव से लगा देने का हौंसला बना रहेगा ।

सीताजी रामचन्द्रजी को यह बात कह रहे हैं : 'मेरे हृदय में सिर्फ आप ही प्रतिष्ठित थे, इसीलिए बड़े अग्निकुंड की आग भी पानी में पलट गई । यह तो आपका बड़ा उपकार है मुझ पर ।'

रामचन्द्रजी सीताजी की अलग ही नझरिये से बताई गई इस बात से आश्चर्यमग्न हो जाते हैं । सीताजी की उत्तम लियाकत पर उन्हें आदर जाग उठा, स्नेह बढ गया । किन्तु, उसका परिणाम कैसा विचित्र आया, वह भी देखो !

रामचन्द्रजी और लक्ष्मण सीताजी को कहते हैं : 'उपकार मानना, वह तो आपके उत्तम और उदार मन की निशानी है । बीत गए समय को देंखे, तो आपके अलावा किसी ओर की औकात ही क्या है कि ऐसी उदात्त सोच भी कर सकें ।'

'ठीक है, चलों अब अयोध्या में । बैठ जाइये इस सुवर्णरथ में और महल में आनंद-मंगल से जीवन बिताइये ।'

महल जाने में सीताजी का इन्कार क्यों ? :

कैसा मनोहर मौका ! जंगल में बिना किसी साथ अकेले निकाल दिये गये, और वहाँ कितने कष्ट सहन किये । इससे भी पहले, रामचन्द्रजी के साथ बारह साल के वनवास को सहा । जबकि आज अत्यंत सत्कार और सन्मान के साथ महल के सुख-सुविधाओं में चैन से रहने को मिलता है, दोनों पुत्रों भी महापराक्रमी होने के साथ-साथ पूर्णरूप से मातृभक्त भी है; सब सानुकूल संयोग मिल आये हैं, फिर भी सीताजी अयोध्यानगरी में आने का मना करके चारित्रपथ पर प्रस्थान करने का अपना निर्धार जाहिर करते है ।

पर, खेद की बात यह थी कि सीताजी के चारित्रनिर्धार पर खुशी मनाने की बजाय रामचन्द्रजी मना कर बैठते है और अयोध्या में ले जाकर संसार में रहने का ही आग्रह रखते है । कर्म की कैसी विचित्रता ! रामचन्द्रजी चरमशरीरी यानि उसी भव में केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जानेवाले है, फिर भी अभी सीताजी के चारित्रस्वीकार में स्वीकृति नहीं दे रहे हैं ! क्यों ऐसा विचित्र परिणाम ?

कारण यह है : सीताजी की अबतक की लियाकत और आखिर में हुए प्रसंग में भी सीताजी के उपकार मानने की उदार मनोवृत्ति से रामचन्द्रजी सीताजी पर अत्यधिक स्नेह-प्रेम-सद्भाव वाले बन गये है । वह अत्यधिक बढा हुआ स्नेह का बंधन ही रामचन्द्रजी को चारित्र-सम्मति देने से रोक रहा है और चारित्र-स्वीकार में अंतरायभूत बन रहा है । यह विचित्र परिणाम ही हुआ ना ?

सीताजी ने चारित्र-स्वीकार का निर्णय क्यों किया ? उसका भी गुप्त रहस्य जानने जैसा है ।

चारित्रनिर्धार का रहस्य :

जब सीताजी जंगल में यकायक अकेले ही छोड़े दिये गये, वह भी पति की आज्ञा से तब उन्होंने शायद सोचा होगा कि,

'यद्यपि, आज जो भी मेरी परिस्थिति है, वो मेरे ही पूर्वकृत कर्मों के कारणवश है, परंतु इससे भी विशिष्ट कारण तो यह है कि मैंने ही संसारवासना को वश होकर संसार बसाया, और स्वामी के रूप में सिर पर लौकिक पति को स्थापित किया, इसलिए आज ये दिन मुझे देखने पड़ रहे है ! जिनको मैंने सिर पर धरें, वही पति के द्वारा आज मुझे देशनिकाल दिया गया है ! अतः मूल में मेरी संसारवासना का पाप ही बूरा है... ।'

'मेरे परमात्मा ने तो उपदेश दिया ही है कि आठ साल की उम्र में ही चारित्रजीवन ग्रहण कर लेना चाहिये, ताकि संसार के जालिम दुःख और अपार पापों में फसना ना पड़े । मेरी ही गलती है कि मैंने परमात्मा के उपदेश को-आदेश को माना नहीं । अब तो ये कलंक नाबूद हो जाये, इतनी ही देर... कलंक उतरते ही चारित्र जीवन का स्वीकार करूँगी ।'

ऐसा निर्धार किया था, इसलिए जब अग्निपरीक्षा का दिव्य के द्वारा झूठा कलंक मिट गया है, तो अब मौका है संयम-स्वीकार करने का, तो क्यों सीताजी संयम के लिए सज्ज न बनें ?

महल में जाकर महारानी के राजाशाही प्रलोभनों के बीच भी सीताजी संयम-भावना से खूब स्वस्थ है । उन्हें अब यह भय नहीं है कि, 'इतने सारे राजाशाही सुख-साधनों से चैन से जीने का छोड़कर, अब ये साध्वी जीवन के कष्ट कैसे सहे जायेंगे ?' ऐसा कोई भय नहीं । अब तो निश्चय किया है : **'बिना कष्ट सिद्धि नहीं ।'**

चारित्र यानि निष्पाप जीवन और निष्पाप जीवन यानि अनन्त कल्याण का महासाधन । इसलिए चारित्र जीवन में चाहे जितने भी कष्ट आ पड़े, पर चारित्र से यदि अनन्त कल्याण, अनन्त सुख शाश्वत काल के लिए प्राप्त हो जाये, तो ये कष्ट से घबराने का क्या ? बिना कष्ट सहे अनन्त कल्याण की सिद्धि नामुमकिन है । नियम है : **बिना कष्ट सिद्धि नहीं ।**

वैसे भी सांसारिक जीवन में कष्ट कहाँ कम है ? फिर भी यदि संसार में मोहवश होकर सुख दिखाई पड़ते हो, तो भी वह है तो नाशवंत ही । और सांसारिक जीवन में पाप का भी कोई पार नहीं है ।

और, **जब तक पापकर्म है, तब तक मोक्ष असंभव है ।** मोक्ष मिलेगा तो निष्पाप जीवन से ही । इसलिए चारित्रजीवन में कितने भी कष्ट आ जाये, कोई बात नहीं, क्योंकि वही जीवन शाश्वत और अनन्त सुख को देनेवाला है । वह शाश्वत और अनन्त सुख की तुलना में यह सांसारिक सुख के जीवन की बिसात ही क्या ? 'बिना कष्ट सिद्धि नहीं' यह सूत्रानुसार कष्टमय भी चारित्र-जीवन अपना ही लेना चाहिये ।

वैसा दृढ निर्धार कर ही लिया हो, तो सुकोमल कायावाले सीताजी चारित्र के कष्टों से क्यों घबरायें ? और अयोध्या के राजमहल के राजाशाही सुखों में क्यों ललचायें ? संसार का माप तो सीताजी ने देशनिकाल-वन में तजे गये उसी वक्त निकाल लिया था, और जो कर्तव्य का निर्धार कर दिया था, अब उस निर्धार के अनुसार ही कर्तव्य-चारित्र ले लेना । ये निर्धार पर ही चलने का सीताजी का निर्णय है । यहाँ प्रश्न होगा कि,

प्रश्न : यह चारित्र-निर्धार का निर्णय वन में छोड़े गये उसी वक्त लिया होगा, ऐसा किस आधार पर कहा जा सके ? क्या सीताजी ने तत्काल ही यह निर्णय नहीं लिया होगा ?

उत्तर : नहीं । इसका समाधान यह है कि,

- पहले जब बारह साल का वनवास पति के साथ हुआ, तब उन्हें ऐसा वैराग्य-भाव नहीं हुआ कि, कर्मों के कारण यदि ऐसे जंगल में भटकने का ही भाग्य में लिखा है, तो इससे बहेतर है कि चारित्रजीवन ही क्यों न जीया जाये ? पति का वनवास पूर्ण होते ही मुझे चारित्र स्वीकार करना है' ऐसा वैराग्य तब नहीं था ।

- उसी तरह, जब रावण सीताजी को अपहरण करके ले गया, तब भी सीताजी को ऐसा भाव न उठा कि, 'यदि मैं रावण की कैद से छूट जाऊँ, तो चारित्रजीवन स्वीकार करूँगी ।' ऐसा वैराग्यभाव तब भी नहीं हुआ था, क्योंकि रावण से छूटने के बाद भी सीताजी रामचन्द्रजी के साथ अयोध्या में राजमहल में रह चूके थे ।

अब देखों, दिव्य होने के बाद जब सीताजी सीधा ही चारित्र-निर्धार का निर्णय जाहिर कर रहे है, तो उस पर से अनुमान किया जा सकता है कि उन्हें जंगल में अकेले छोड़ देने की अपनी अवस्था देख कर उच्च वैराग्यभाव प्रगट हुआ होगा कि मूल में संसारवासना के पाप से ही मेरी यह अवस्था निर्मित हुई है । जब यह कलंक उतर जाये, तो शीघ्र ही चारित्र का स्वीकार कर लेना । क्योंकि कलंकित अवस्था मैं यदि में चारित्र ले लूँ, तो जैनधर्म की हीलना होगी ।'

अज्ञानी-मूढ लोग बोलने लगेंगे : 'देखा, परपुरुष के साथ बस के आई, और पति ने निकाल दी, तो बन गई साध्वी ! बहुत अच्छा है इनका जैनधर्म ! पहले व्यभिचार कर लों, फिर पूरे जग में सत्कार-सन्मान मिलें ऐसी दीक्षा ले लों !'

इस तरह जग में जैनधर्म की लघुता होगी । पर, जब कलंक निकल जाये और लोग समझ ले कि, 'नहीं, सीताजी सचमुच में सती है' बाद में चारित्र लेना, फिर लोगों को जैसे-तैसे बोलने का स्थान ही नहीं बचेगा, जैनधर्म की निन्दा भी नहीं होगी । सीताजी ने ऐसा निर्धार जंगल में तजे गये उसी वक्त कर लिया होगा । इसलिए ही अब,

- दिव्य होने के बाद पति रामचन्द्रजी का अपने अपकृत्य पर भारी पश्चात्ताप,
- सीताजी पर रामचन्द्रजी का अधिक प्रेम-सद्भाव,
- मूल्यवान रत्न जैसे गुणियल और महापराक्रमी दो पुत्र,
- राजाशाही वैभव-विलास, तथा
- लोक में देवी जैसा मान-सन्मान...

ये सब अनुकूलताएँ तजकर यकायक क्यों सीताजी संयम-जीवन लेने निकल पड़े ?

पूछो कि,

प्रश्न : क्या ऐसा संभव नहीं है कि, चारित्र का निर्धार पहेले जंगल में छोड़े जाने के वक्त पर नहीं, पर अभी किये हुए अग्निपरीक्षा के दिव्य के पश्चात् हुआ हो ? क्योंकि अब संपूर्ण अनुकूलताएँ मिल जाने पर भी यह सोच से वैराग्यभाव जाग्रत हो गया हो कि, 'एकबार तो पति ने मुझे बिना सोचे-समझे जंगल में फेंक दी, और अब पछतावा कर रहे है ! कैसा नाटक है यह संसार का ! एक दिन ये ही सारे नगर के लोग मेरी निन्दा कर रहे थे और आज... ? आज 'देवी' कहकर पुकारते है ! यह भी कैसा नाटक ! यह नाटकीय संसार ही बेवफा है, इसलिए इसे छोड़कर चारित्र को स्वीकार लूँ।' इस तरह वैराग्य और चारित्र-निर्धार अभी ही-दिव्य के पश्चात् ही हुआ हो, ऐसा संभव नहीं ?

उत्तर : बिल्कुल संभव हो सकता है, अन्य महापुरुषों के भी जीवन में ऐसा कुछ हुआ भी है, मगर यहाँ परिस्थिति कुछ अलग-सी है। पति जो पछतावा कर रहे हैं, वह पछतावा लोगों के वचनों से उन्होंने भी गलत कदम उठा लिए थे, उसका पछतावा था। ऐसा पछतावा तो प्रशंसनीय है, उसे 'संसार का नाटक' नहीं कहा जाता। वैसे ही, लोग भी जो अभी 'देवी' कहकर पुकारते हैं, वे भी सत्य सामने आने से है, इसे 'नाटक' कैसे कहा जाये ?

तात्पर्य यह है कि अभी यकायक चारित्र-निर्धार जाहिर करना; वह निर्धार अभी के बने प्रसंग पर निर्भर नहीं है। मानना ही पड़ेगा कि सीताजी ने वन में छोड़े जाने वक्त ही चारित्र का निर्धार कर लिया होगा।

यह इसलिए दृढता से कह सकते है, क्योंकि पहले पति के साथ वनवास और रावण की कैद में कैदी जैसी अवस्था के कष्ट से भी ज्यादा कष्टतर था लोगों की निंदा और पति के हाथों ही जंगल में छोड़ देने का अपमान ! ये लोग-निन्दा और पति द्वारा हुआ अपमान; सीताजी को असह्य होकर मन को कइ गुना ज्यादा कष्टतर लगा होगा। कोई भी सज्जन व्यक्ति को ऐसे अपमान-तिरस्कार का कष्ट, ओर कष्ट की तुलना में ज्यादा ही लगेगा, महाभयंकर ही लगेगा। सिर्फ इतना ही नहीं, पर इस कष्ट के आगे बड़े राजाशाही वैभव और सुख-विलास भी मूल्यहीन लगेंगे।

सीताजी को भी शायद ऐसा ही लगा होगा, इसलिए मन में सहज भाव हुए होंगे कि, 'क्या सार निकाला इस वैभवी सुख-सुविधाओं का, यदि अन्त में ऐसी बदनामी और अपयश ही सहने पड़ते हो ? इसलिए जब कलंक मिट जायेगा, और बेगुनाही-सच्चाई सामने आ जायेगी, तो फिर संसार के सुख-वैभव की विष्ठा में मुँह डालने की मूर्खता नहीं करूँगी, किन्तु संसारसुख को अलविदा करके पवित्र चारित्र-जीवन ही अपनाऊँगी ।' इस प्रकार से,

(१) जड़ में देंखे तो संसारवासना के पाप पर ही जंगल में अकेले छोड़ जाने का हुआ, इसलिए संसारवासना ही अब छोड़ दी जाये; इस सोच पर, और

(२) जंगल में छोड़ देने के भयंकर अपमान-अपयश के आगे संसारसुख की कुछ बिसात ही नहीं है, इसलिए अब मूल्यहीन ऐसे संसारसुख से क्या ? अब उसमें गुलाम बनने की मूर्खता करनी नहीं है ।

इस विचार से जंगल में छोड़ देने के समय ही सीताजी का वैराग्यभाव प्रबल हो गया हो और कलंक मिट जाने के साथ ही चारित्र-ग्रहण का निर्धार कर लिया हो; यह सुसंभवित है ।

ऐसा चारित्र-निर्धार भी आसान नहीं है । देखिये, आज दुनिया में कई लोग पटकाते नहीं है ? क्या कोई ऐसे शिकंजे में फँस नहीं जाते कि समाज में बदनामी भी सहनी पड़े ? फिर भी किस व्यक्ति को विचार आता है कि, वास्तव में, संसारवासना के पाप-जड़ से ही यह बदनामी फूटी हुई है, इसलिए जब ये शिकंजे या बदनामी से बाहर निकल जाऊँ कि शीघ्र संसारवासना और संसार का त्याग करके चारित्र अपना लूँगा ? ऐसा सोचनेवाले कितने ?

इस कारण से ही सीताजी ने किया हुआ चारित्र-निर्धार का निर्णय अत्यंत प्रशंसनीय एवं सत्कारणीय है । इतना ही नहीं, परन्तु इससे बोध पाकर जीवन में जब कोई ऐसी बदनामी की क्षण आयें, तब संसार और भोगसुखों से उदासीनभाव उठना चाहिये । तब या तो संसार को छोड़कर चारित्रजीवन ग्रहण करना या तो गृहस्थजीवन में रहकर भी वैराग्य से हृदय को भावित बनाकर यथाशक्य भोग-सुखों को छोड़ना चाहिये ।

३. तीन तमाच

बात यह चल रही थी कि सीताजी ने दिव्य करने के बाद अयोध्या जाने से इनकार कर दिया और चारित्र अंगीकार करने का निर्णय प्रगट कर दिया । तब राम-लक्ष्मण उन्हें अयोध्या में पधारने के लिए बहुत आग्रह करते हैं, उस वक्त सीताजी कितना तत्त्व और तर्क पूर्ण उत्तर देते हैं, देखिये :

सीताजी कहते हैं : '**आप अब आग्रह करना छोड़ दों । देखों, मैंने अनन्त काल में तो कर्मों के हाथों अनन्त तमाच की मार सही है, परन्तु इस भव में भी तीन-तीन बार कर्मों की भयंकर तमाच खायी, तो अब चौथी तमाच खाने का मुझे शौक नहीं है ।**'

सीताजी को कर्म की तीन तमाच कौन-सी ? :

सीताजी कह रहे हैं : 'इसी जनम में मैंने कर्म की भारी तीन तमाच खायी है ।'

(१) जब में श्रीरामचन्द्रजी के साथ विवाह करके मेरे पिताजी जनकराजा के महल को अलविदा कर ससुराल में आयी, तब मेरे मन में उमंग था कि, 'कैसा अहोभाग्य मेरा ! दुनिया की किसी ओर कन्या को ना मिल सके ऐसे महायशस्वी और दशरथनंदन श्रीराम को मैंने पति के रूप में पा लिया ! अब राजमहलों में उनके साथ आनंद-मंगल से जीवन बिताऊँगी !'

'परन्तु कर्म ने मुझे जोरदार तमाच लगायी कि, 'आ, तुझे मजे से महलों में जीना है ना ? चल, तुझे वनवास के कष्ट में पटक देता हूँ...' और महलवास से उठाकर मुझे जंगल में भटकती कर दी ।

(२) जबकि, पहली तमाच में वनवास मिलने पर भी मैंने मन में समता बनायी रखी कि, 'ठीक है, भले ही महलों का सुख नसीब में नहीं रहा, मेरे पति तो मेरे साथ ही है ना ? मैं कहाँ महल के सुख-साधनों से शादी करने को चली थी !

शादी तो मैंने श्रीराम के साथ की है और जब २४ कैरेट सोने जैसे पति मेरे साथ है, तो अब क्यों रोना-धोना ? जिसके साथ हृदय के स्नेह से तार जुड़े है, वो सलामत तो सब सलामत ! महल, नौकर-चाकर, हीरे-मोती, राजशाही खान-पान और घोड़े-रथ आदि वाहनों से मैंने स्नेह नहीं किया था, महलों के लगाव से मैंने रामचन्द्रजी के साथ शादी नहीं की थी, इसलिए यदि महल वगैरेह होने या न होने से मुझे क्या फ़र्क पड़ता है ? मेरे पति मेरे साथ, तो पूरी दुनिया मेरे साथ है !'

इस तरह मैंने मन को सँभाल लिया, तो कर्म ने दूसरी तमाच ठोंक दी : 'आ, जरा यहाँ आ, तेरे पति तेरे साथ सलामत है ना ? तो लें, एक तमाच ओर खा लें' और रावण के हाथों अपहरण करवा कर मुझे मेरे पति से दूर कर दी ! कर्म की इस तमाच से मेरे पति मेरे साथ सलामत कहाँ रह पाये ?

(३) तीसरी भयंकर कर्म की तमाच ऐसी पड़ी कि आपने आकर रावण से युद्ध किया, रावण मारा गया और आपने मुझे अयोध्या के महासाम्राज्ञी के पद पर बिठाया । तब मेरे मन ने कहा कि, 'चलो, अब दुःख के दिन बीत गये ।'

वहाँ कर्म ने तीसरी जोरदार तमाच यह लगाई कि, 'आ जा यहाँ, तेरे दुःख के दिन बीत गये ना ? ले तो अब देखती जा तूँ । इन सब दुःखों को भी 'अच्छे' साबित कर दें ऐसा दुःख तुझे देता हूँ । तेरे ही पति से तुझे अपमानित करवा कर जंगल में असहाय अकेली छोड़ देने का महाभयंकर दुःख दिखाता हूँ ।' और जंगल में मुझे छोड़ कर मेरी दुर्दशा की ।

'इस तरह कर्मों की तीन-तीन तमाच खाई । अब आप कह रहे हो कि 'चलों, अयोध्या ! और मैं चलूँ, तो उसका अर्थ भी यही हुआ कि महल में बैठ कर कर्म की चोथी तमाच खाने के लिए मुझे मेरा मुँह तैयार रखना होगा ।'

'माफ करना, अनन्तानन्त जन्मों में मैंने कर्म की अनंत तमाचे खायी है पर, अब ओर खाने के अरमान नहीं हैं ।'

'अब तक मुझे कर्मों ने तमाचे मारी हैं, पर अब मैं जिनशासन के अहिंसा-संयम-तप से कर्म को तमाचे मारूँगी और कर्मों की झंझीरों से सदैव मुक्त कर देनेवालें अहिंसा-संयम-तप का पंथ स्वीकार करूँगी; इसलिए मैं चारित्र जीवन अंगीकार करने जा रही हूँ ।'

कितने उच्च विचार और कितना उत्तम विवेक ! इनके तीनों प्रसंग से हमें बोध लेना है ।

तीन प्रसंग से बोध :

(१) पहला प्रसंग : सीताजी को विश्वास था कि राम से विवाह करके वो जीवनभर आनंद और शांतिपूर्वक महलों में सुख-भोगों में जीवन बितायेंगे । वह विश्वास तूट गया । कर्म किस प्रकार जीवों का विश्वासघात करता है, इसका श्रेष्ठ उदाहरण आपको यहाँ मिलेगा ।

कर्म का एक ही रूप नहीं है । कर्म के कई प्रकार है । कर्म का एक अर्थ है पुण्य । पुण्य के भी कई प्रकार है, जैसे मानवजन्म पाया यह महापुण्योदय ही है । उसमें आयुष्य का पुण्य, आरोग्य-बल-शक्ति-धन-दौलत-इज्जत-खानपान-स्वस्थ बुद्धि वाला दिमाग-व्यापार में वृद्धि-अच्छा परिवार-योग्य सेवक-योग्य पड़ोसी-उत्तम राजसत्तादि मिलना... ये सारे पुण्य के प्रकार है । पर यही पुण्यकर्म कैसा विश्वासघात करता है, यह संसार में बार-बार हमें दिखता है । उदाहरण :

- जीवन में आयुष्य के पुण्यबल पर भरोसा रखकर निश्चिंत बैठे थे, तभी मृत्यु आ जाये तो मानव जीवन समाप्त !
- धन-संपत्ति के पुण्य पर विश्वास करके बैठे थे, पर अचानक होने वाले बड़े नुकसान के कारण धन-वैभव सब समाप्त !
- बल पर बहुत भरोसा रखा था, पर अचानक कोई बिमारी या तो अकस्मात के कारण बल-शक्ति क्षीण हो जाती है ।

वैसे देखा जाए तो जितने पुण्य कर्म के प्रकार, उतने ही उनके विश्वासघात के भी प्रकार ! ऐसे अनेक विश्वासघात का भोग बनता रहा है यह जीव ! कैसी दयनीय दशा... ?

तो अब बताइये कि यदि कर्म के विश्वासघात हृदय को दुःखी करते-खटकते तो क्या इस संसार में सुख-शांतिपूर्वक जी पायेंगे ?

सोचो ! आपकी दुकान में पच्चीस नौकर है और आपको पता चला कि वे सब के सब विश्वासघाती स्वभाव के हैं, तो क्या आप सुख-शांति-निश्चिंतता से जी सकेंगे ? क्या एक भी क्षण चैन से रह पायेंगे ?

यह संसार भी ऐसा ही विश्वासघाती है, फिर भी आप सुख-चैन से जी रहे हो ना ? क्यों ? यह पैसा-पत्नी-जमीन-जायदाद-स्नेहीजन... इत्यादि तमाम यहाँ तक की आपकी अपनी काया और काया का एक-एक अंगोपांग अचानक कब बिगड़ जाए इस बात की कोई गॅरन्टी है ? पल में ही पैसे डूब जाते है ! पत्नी और पुत्र-पुत्री का क्रोध अचानक विकराल रूप ले लेता है ! कभी-कभी घर की कोई वस्तु भी टूट-बिखर भी जाती है । कभी दुकान पर रखें माल का अचानक भाव गिर जाता है ! या काया की समस्या कभी हाथ - कभी पाँव - तो कभी कमर का दर्द ! कभी हड्डी टूट जाती है, तो कभी कोई स्नेहीजन रुठ जाता है ! क्या है यह सब... ? सब व्यवस्थित ही चलेगा; ऐसा विश्वास का घात हुआ । अब मन में यह प्रश्न उठता है कि,

ऐसे विश्वासघाती व द्रोही के बीच भी आप चैन से जी रहे हो, तो क्या यह बेशर्मी और धिट्ठता नहीं कि हम उस वक्त भी यही सोचते है कि, 'चलो ! भले ही विश्वासघाती है तो विश्वासघाती ही सही, पर इससे आनंद तो मिलता है ना जीवन में ? बस तो इनके विश्वासघात पर ज्यादा ध्यान देने या महत्त्व देने की क्या जरूरत है मुझे ?'

पत्नी रूपवती और सेवाभावी हो, परन्तु कुलटा हो, तो भी यदि पति स्वयं को यह सोचकर आश्वासन दे कि, 'भले ही वो कुलटा है तो क्या हुआ, परन्तु उसके कारण जीवन आनंदपूर्वक गुजर रहा है ना ? तो उसकी कुलटागिरी को ज्यादा महत्त्व क्यों दे ?' इस सोच के साथ वो शांतिपूर्वक अपना जीवन बिताये, तो यह उस पति की धिट्ठाई ही हुई ना ? फिर उसकी समाज में क्या इज्जत होगी ?

आप ही बताईये, दुनिया के पदार्थों और प्रसंगों के विश्वासघातक होने की बात को समझते हुए भी इसमें आराम, शांति और एकदम निश्चिंत रहना और उसके साथ पूरे संबंध रखकर पूरा जीवन जीना; क्या यह धिट्ठता नहीं ? ज्ञानी लोक में उसकी कीमत कितनी ?

अब यह कहोगें कि, 'हम सब समझते है, पर सब एकसाथ छोड़ देना आसान तो नहीं ही है ना ?'

बात सच्ची है, सब छोड़ पाना संभव नहीं भी हो, परन्तु यह विश्वासघातक पदार्थ को आत्मा के हित के लिए उपयोगी बना सकते है या नहीं ?

- जैसे, आँख विश्वासघातक है । आज है, कल होगी ही इसका कोई भरोसा नहीं, तो इसका उपयोग प्रभुदर्शन, गुरु-भगवंत के दर्शन, शास्त्रवांचनादि में ज्यादा से ज्यादा करके आत्मा का कल्याण कर सकते है ना ? पर गरज ही किसको है ? आँखों का सदुपयोग करना हो, तो कदम-कदम पर सद्-निमित्त मिल पाते है, मगर कितना करते है हम ?

- जीभ भी एक विश्वासघातक इंद्रिय ही है । कौन जाने कब तक साथ निभायेगी ? तो क्यों ना इससे अच्छे-मधुरे-मीठे बोल, प्रभु के उत्तम स्तोत्रों का उच्चारण शास्त्र-गाथा और महापुरुषों के गुणगानादि जितने कर सके उतने सदा करने की भावना रखें ।

'जिस पर भरोसा किया और जिसके भरोसे पर निश्चिंत होकर बैठे रहें, वह अचानक कभी भी कहीं भी बिगड़ जाने से या नष्ट हो जाने से हमारे विश्वास को घात करनेवालें हैं ।' यह बात यदि हम अच्छी तरह अपने मन-मस्तिष्क में बिठा दे, तो यह आँख और जीभ ही नहीं, परन्तु हमारे शरीर के प्रत्येक अंगोपांग जैसे कान, हाथ, पाँव और सम्पूर्ण शरीर और पैसा-पत्नी-पुत्र-संपत्ति-सामानादि का भी जिनभक्ति, साधु-भगवंतो की वैयावच्च, साधर्मिकों की सेवा-भक्ति-सत्कार, ज्ञानभक्ति ... आदि में सदुपयोग करते रहने को मन सहज ही तत्पर रहेगा ।

सुबह आँख खुलते ही विचार करे कि, 'सीताजी जैसी महापुण्यशाली सती को भी जिस पुण्यकर्म पर विश्वास था, वह उन्हें दगा दे गया, तो हमारे जैसे सामान्य मानवी के लिए ऐसा कौन-सा कर्म है, जो वफादारी निभाने पूर्वक हमारी धारणानुसार फल देता ही रहेगा ? और हमारी सुख-सुविधाओं को पूर्ण करने की सेवा करता ही रहेगा ?'

यह बात सिर्फ हमारे लिए ही नहीं है, पर सम्पूर्ण जगत के लिए कर्म और संसारी पदार्थ विश्वासघाती ही है । इसीलिए जब तक कर्म और पदार्थ अच्छी स्थिति में हैं, तब तक उसके द्वारा जितनी हो सके उतनी सुकृत-साधना कर लेनी चाहिये ।

सीताजी ने जब हर्षोल्लास से पति के संग महलों में सुख भोगने का सपना संजोया, तब उनके सारे स्वप्नों को, सुख-वैभव को वनवास के कष्टमय दिनों में

बदलकर कर्म ने पहली तमाच लगायी । कर्मराजा की यह कैसी जोरदार तमाच थी ! इसीसे बोध मिलता है कि उनके पुण्यकर्मों ने उनके विश्वास पर कैसा जोरदार प्रहार करके उसके टुकडे टुकडे कर दिये थे ।

(२) दूसरी तमाच थी : वनवास के दौरान रावण ने सीताजी का अपहरण किया । जब राम और लक्ष्मण जैसे वीर रक्षक उन्हें एक पल के लिए वन में कभी अकेले नहीं छोड़ते थे, इसके बावजूद भी कर्मों ने रावण के हाथों सीताजी को अपहृत किये, कर्म की कितनी तेज तमाच !

रावण ने वहाँ कुछ ऐसा प्रपंच रचा, कि जैसे दूर किसी सज्जन पुरुष पर दुष्ट ने आक्रमण किया हो । यह देखकर राम उस पीडित की सहायता-रक्षा करने के उद्देश्य से भागते भागते काफी दूर निकल जाते है । उसके बाद रावण ने जोर से सिंहनाद किया, जिसे सुनकर सीताजी राम के लिए चिंतित होकर लक्ष्मण से कहती है कि, 'लक्ष्मण ! शायद आपके भाई किसी आपत्ति में है, इसलिए आप शीघ्रातिशीघ्र जाकर उनकी सहायता करें ।'

लक्ष्मण निश्चिंत होकर कहते है : 'आप बिल्कुल भी चिंता ना करें । मेरे भैया इतने समर्थ है कि उनका बाल भी कोई टेढा नहीं कर सकता । और वैसे भी मैं तो आपको इस जंगल में अकेले छोड़कर नहीं जा सकता ।'

सीता कहती है : 'इस जगत में समर्थ से समर्थ मानव भी मायाजाल का भोग बन सकता है, इसलिए आप देर ना करें और मायावी की जाल से भैया को छुड़वाकर ले आईये । मेरी जरा भी चिंता न करें । वैसे भी इतने अल्प समय में मेरे ऊपर कौन-सी मुसीबत आ जायेगी ? और यदि आ भी जाये, तो मेरा जो हो वो होने दों, पर मेरे स्वामी सलामत रहें, इतना ही बस है । अब जल्दी जाकर अपने भाई की सहायता करों !' कितने समयज्ञ है महासतीजी !

इस प्रकार रावण की बिछायी मायाजाल में पहले राम को और बाद में लक्ष्मण को भी सीताजी से दूर करना... इस प्रसंग ने कैसा घात कर दिया मानवी के पुण्यकर्मों पर रखे विश्वास का ?

सीताजी मानते होंगे कि 'एक तो क्या, दो-दो महाबली समर्थ वीर के साथ रहते इस जंगल में भी मैं सुरक्षित हूँ, फिर क्या फिक्र मुझे ?' मगर, बिना फिक्र जीना

मिले; वह पुण्य का फल है, किन्तु वह पुण्य का क्या भरोसा ? सीताजी पर अब अशुभ कर्मों का हुमला शुरू होता है, और अशुभ कर्म पहेले राम, फिर लक्ष्मण को भी सीताजी से दूर कर देता है, साथ ही सीताजी के पास रावण को भिक्षुक के वेश में हाजिर कर देता है; यह सब कुछ अशुभ कर्म ही करवातें हैं !

रावण सीता की झोंपड़ी के आगे आ कर पुकारते हैं : 'मैया ! भिक्षा दो ।'

जब कोमल हृदयवाली सीताजी की आटा या रोटी लेकर झोंपड़ी से बाहर आती है और रावण की दुष्टता से अनजान सीताजी उसे भिक्षा देती है, तुरंत ही रावण सीताजी को विमान में डाल के उठा ले जाता है ।

षडयंत्र को कौन समझ पाया है ? कहते है कि माया से तो ब्रह्मा को भी जाल में फँसाया जा सकता है, तो सोचों सामान्य जीव की तो बात ही क्या ? वो कैसे बच पायेगा ?

ऐसे मायावी और प्रपंची संसार में हमें संयोगवश रहना ही पड़ रहा है, तो क्या निश्चित होकर रहना कि, 'चलो बैठो शांतिपूर्वक ! क्योंकि अब शांतिपूर्वक आराम से बैठने का अवसर आया है ।' अरे ! संसार में जो भी जीव निश्चित होकर बैठ गये, वे सारे-अनन्त जीवों को धोखा ही मिला है !

जहाँ इस संसार की प्रत्येक वस्तु अत्यंत विश्वासघाती है, वहाँ निश्चिंत होकर इन विश्वासघातीयों के बीच शांतिपूर्वक बैठे भी किस प्रकार ?

ज्ञानीयों ने संसार को इसीलिए असार बताया है, क्योंकि यह विश्वासघाती पदार्थों से भरा पड़ा है ।

यदि संसार के ऐसे स्वरूप-स्वभाव को पहचान ले, तो फिर संसार के किसी भी पदार्थों की ममता बनेगी ही नहीं । जब ममता ही नहीं रहेगी, तो आत्महित के लिए धर्मसाधना और गुणसाधना में कोई अवरोध नहीं रहेगा । संसार के पदार्थों की ममता ही आत्महित-धर्मसाधना-गुणसाधना के कर्तव्य अदा करने में बाधक बनती है ।

इस उच्च मानवभव में धर्मसाधना और गुणसाधना के सुनहरे अवसर सामने होते हुए भी हम किस कारण वंचित रह जाते है ? कहना ही पडेगा कि, 'संसार असार है'

ऐसा हम अभी तक समझ ही नहीं पाये है और इसीलिए संसार के विश्वासघातक पदार्थों पर भी विश्वास करके निश्चिंत बैठे है, यह ही हमें धर्मसाधना से वंचित रखते है ।

यदि हम यह बात समझते, तो मन में यही विचार होता कि, 'इन संसारी पदार्थों का कोई भरोसा नहीं कि कब मुझे धोखा देकर अचानक ही बिगड जाये या नष्ट हो जाये, तो बहतर है कि आज ये ठीक हैं, तो अभी से ही दान-शील-तप-जिनभक्ति-साधु भगवंतों की वैयावच्च करता रहूँ । विनय-क्षमा-नम्रतादि गुणों की साधना में तत्पर रहूँ ।'

'सुबह आँख खुलते यही उत्साह रखूँ कि आज मुझे कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे धर्मसाधना और गुणसाधना करने मिलेगी ? और ऐसा सुनहरा मौका मिलते ही उसे झपट कर वह-वह धर्म और गुण की साधना करने लगूँ ।'

पूर्व के महापुरुषों इसीलिए धर्मशील और गुणवान बने रहें, क्योंकि वे पूर्णतया भलीभाँती समझे थे कि इस संसार के सारे संयोग विश्वासघाती है । वो जब तक अनुकूल है, तब तक हमें यथाशक्ति धर्म कर लेना चाहिये और गुणों को ग्रहण करते रहना चाहिये अर्थात् धर्मवान और गुणवान बनने का एक भी क्षण प्रमाद वश खोना नहीं चाहिये ।

अनंतानंत जन्मों से हम पाप और दोषों का सेवन कर रहे हैं । अब जब यह आर्य मानव जन्म पाया है, जिनशासन पाया है, तो उसका सदुपयोग है : पापस्वभाव मिटाकर धर्मस्वभाव बनाने में ! दोषस्वभाव को नाबूद करके गुणस्वभाव बनाने में !

चंदनबाला भरे बाजार में बेची गयी, धना सेठ उसे खरीदकर अपने घर ले आये । पिता का घर-वैभव तो खोया ही पर माँ के ममता की छाँव से भी वंचित हो गयी थी और एक बनिये के घर बाजारु चीज की तरह खरीद करके लायी गयी ! है दुःख की मर्यादा ? फिर भी कोई आक्रोश या आक्रंद नहीं है, क्योंकि वो समझती थी कि यह सब पाप का परिणाम है । उसने दो बातें थाम ली थी कि ...

(१) स्वयं के ही पूर्वकृत कर्मों का यह परिणाम है, यह समझकर तटस्थ और उदासीन भाव से सब अपनाकर स्वस्थ रहना है । जो जैसा चल रहा है, हो रहा है उसे वैसे ही चलने दो । यही हिसाब रखा ।

(२) हंमेशा अरिहंत प्रभु की शरण में रहना । 'मैं अरिहंत प्रभु की शरण में हूँ । प्रभु की शरण स्वीकारने के बाद मुझे चिंता किस बात की ? मेरा सब कुछ मेरे प्रभु ! संभाल लेंगे । मुझे तो सिर्फ प्रभु को संभालना है ।'

बस ! जब हृदय में इन दो भाव पर जोरदार श्रद्धा हो, तो फिर कैसे और क्यों हृदय में क्रोध-द्वेषादि करें ? क्यों किसी प्रपंच का पाप करें ?

भगवान और जिनशासन मिले है ना ? तो फिर अनादि काल से चली आ रही दोषशीलता और पापशीलता अर्थात् दोष का स्वभाव और पाप का स्वभाव छोड़ ही देंगें ना ?

चंदना की उच्च आत्म-परिणति खास तौर पर ध्यान में रखने जैसी है । जरा विचार करेंगे तो आश्चर्य होगा कि, एक समय की राजकुमारी आज ऐसी गुलाम अवस्था में ! मानो कि जैसे यह भी कम हो, तो उपर से धनासेठ की द्वेषिली-ईर्ष्यालु पत्नी चंदना का सिर मुंडाकर, हाथ-पैर में बेड़ियाँ पहनाकर तहखाने में डाल दे ! वहाँ भी उसे भूखा-प्यासा रहना पड़े ! फिर भी राजकुमारी चंदना कि,

- सहनशीलता अद्‌भुत !
- समता अद्‌भुत !
- विनय-नम्रता अद्‌भुत !
- प्रभु-भक्ति गजब की !
- जेठ मास की भयंकर गर्मी में भी तीन-तीन दिनों तक भूखे-प्यासे तड़पने के बाद भी बहुत ही स्वस्थ-एकाग्र चित्त से प्रभु महावीर के नाम का अनवरत स्मरण और रटण !

जीवन में धर्मशीलता और गुणशीलता की जब उग्र उत्साह और तड़प होती है, तब ही ऐसी अद्‌भुत बातों का होना मुमकिन होता है ।

जीवन की सच्ची सुवास यही है !

अन्यथा जीवन तो कुत्ते-बिल्ली भी जी लेते है, पर उस जीवन की कीमत कितनी ? इस मानवभव को यदि ऐसी कोई धर्म या गुणों की सुवास से सुगंधित नहीं किया, इसमें ऐसी कोई धर्म-गुणों की कमाई ना की, तो क्या हम भी पशु की तरह ही बिना सुवास का और पाप-दोषों की दुर्गंध से भरा जीवन बीता देंगें ? ऐसे दुर्लभ भव को व्यर्थ गँवा देंगे ?

रावण षडयंत्र रचकर सीता का अपहरण करके ले जाता है और उसे मजबूत पहेरदारों के बीच अशोकवाटीका में रखता है ।

रावण जीने की मजा किसमें समझता होगा ? किसी ओर की पत्नी को जबरजस्ती उठाकर अपने घर में खोंस देना; इसमें ही जीवन की मजा समझी होगी ना ? रावण शूरवीर है, पर कामवासना बड़े-बड़े शूरवीरों को अपने पथ से डगा देती है ।

सीताजी को कर्म की पहली तमाच में जब वनवास मिला, तब तो उन्होंने यह सोचकर मन को सँभाल लिया था कि, 'महलों से भले ही निकलकर वन में भटकना पड़ा, पर मैंने विवाह महलों से नहीं, राम से ही किया था, तो जब वो मेरे साथ है, तो रोना क्यों ? और जब तक मेरे साथ मेरे पति है, तब तक मुझे फ़िक्र-चिंता भी किस बात की ?' परंतु कर्म ने सीताजी को दूसरी तमाच लगायी और रावण के हाथों उनका अपहरण करवा दिया ।

अब इस दूसरी तमाच के बाद तो उन्हें पति का भी वियोग हो गया, तब क्या रोना नहीं होगा ? नहीं । तब भी सीता ने अपने मन को यह समझाकर शांत रखा कि, 'मेरे या पति के कोई अपराध-गलती से पति का वियोग नहीं हुआ है, मगर रावण के कुकृत्य से मुझे पति से दूर होना पड़ा है । **पति के विरह को सहना पड़ता है, फिर भी शील का वियोग तो नहीं ही है, शील तो मेरे पास अखंड़ बचा है, यही मेरे लिए महान आश्वासन है ।** भले ही आज मैं कर्मवश रावण की कैद में हूँ, पर फिर भी उस रावण में इतनी ताकात नहीं है कि मेरा शील खंडित कर सके ।'

सीताजी अपने शील की रक्षा के लिए ऐसा दृढ निर्धार कैसे रख सकती है ? क्या वो इस बात से अनजान थी कि रावण ने उनका अपहरण किया उसके पीछे रावण का क्या उद्देश्य था ? नहीं ! वो भलीभाँती जानती थी ।

तो अब, बलवान और ताकतवर रावण के आक्रमण होने पर वह अबला अपने शील की रक्षा कैसे कर पायेगी ?

४. ... मगर शील न जाये

रावण जब पहली बार सीता से मिलने अशोकवाटिका में आता है, तब महासती उसे ललकारते हुए सावधान करती है कि, 'सुनों रावण ! साढे तीन हाथ दूर रहकर ही मुझसे बात करना । इससे ज्यादा नजदीक आने की कोशिश की, तो समझ लेना कि तेरे हाथों सीता नहीं, पर सीता का मृतदेह ही होगा । और इतना तो जानते हो ना कि मुर्दों पर तो गिद्ध ही मंडराते हैं !'

सीता ने निर्णय कर लिया था कि रावण ने यदि उन्हें स्पर्श करने कोशिश भी की, तो वह अपनी जीभ कुचल के प्राण त्याग देगी । फिर रावण कितना बलवान क्यों ना हो, उनके शील को खंडित नहीं कर पायेगा ।

शीलरक्षा के खातिर चंदना की माता का आपघात :

चंदना की माता के साथ क्या हुआ था ? सैनिक जब चंदना और उनकी माता धारिणी को जंगल के रस्ते से ले जा रहा था, तब सैनिक कहता है : 'भले ही आपके पति अब नहीं रहे, पर चिंता मत करों । मैं तुम्हें अपने घर में रानी बना कर रखूगाँ ।' बस, सैनिक की बात सुनते ही महासती धारिणी ने जीभ कुचलकर अपने प्राण त्याग दिये । सैनिक देखकर घबरा गया ।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है :

भविष्य में अनेक धर्म और सुकृतों को करने में समर्थ इस मानव जीवन को शील की खातिर खतम क्यों करना ? :

प्रश्न : क्या इस प्रकार मानव भव का नाश करना चाहिये ? यदि आपघात ना करें और जीवन रहें, तो आगे आखिर तक चारित्र ग्रहण करने जैसी कितनी धर्माराधना, गुणाभ्यास और सुकृत आदि साधनाओं करने के अवसर मिल सकते हैं ?

उत्तर : यह हिसाब गलत है । क्योंकि पहले प्राण बचाने के लिए धर्म के प्राणभूत शील के परिणाम ही नष्ट कर दिये, तो वहाँ धर्म का परिणाम भी तो नष्ट हुआ ही ना ? 'शील जाये तो जाये बस, प्राण नहीं जाने चाहिये ।' मन में यह बात रहने से, प्राण तो पौद्गलिक चीज है उसके आगे शील जो एक आध्यात्मिक चीज है; उसे गौण बनायी ।

धर्म के परिणाम–भाव को नजरअंदाज करके शील खंडित या भंग हो जाने के बाद, आप चाहे कितना भी धर्म कर लो, परन्तु वो गौणरूप ही रहेगा ।

क्योंकि मन का भाव तो वही का वही बना रहा कि, भले ही भविष्य में ज्यादा धर्म के अवसर पाने के लिए प्राण बचा लिये, मगर आज के दिन–वर्तमान में तो शीलधर्म को गौण बनाकर प्राण–जीवन को ही प्रधान बनाया । इसमें 'प्राण धर्म से भी ज्यादा कीमती, प्राण ज्यादा महत्त्वपूर्ण, धर्म की महत्ता कम' यही मनोदशा हुई ।

ऐसी स्थिति ना बने, इसलिए कुमारपाल राजा ने नवरात्री के दिनों में एक बकरे की भी बलि न दी और बलि न देकर अपने दयाधर्म के भाव को सुरक्षित रखने के खातिर देवी का प्रकोप होने पर अग्नि में जिंदा जल जाने को भी सज्ज हो गये !

ठीक उसी प्रकार, यहाँ चंदनबाला की माता धारिणी रानी ने भी सुभट के हाथों शीलभंग होने की संभावना से अपना जीवन समाप्त कर दिया । उसका एक ही कारण था : 'प्राण से भी अधिक मुख्यता शीलधर्म की ही रहनी चाहिये ।' यह जीवनसूत्र बनाया था ।

धारिणी के आत्मघात से सुभट घबरा गया कि, 'ऐसा कुछ – पत्नी बनाने जैसी बात बोल दूँ और कही इसकी पुत्री भी इसी प्रकार प्राण त्याग दे तो ? क्योंकि वो भी है तो सत्त्वशाली माता की ही पुत्री ना ?' इसलिए वो तुरंत ही चंदना से कहता है : 'बहन ! तू ऐसा कुछ भी मत करना । अपने प्राण त्यागने का मत सोचना । मैं तुझे अपने घर की रानी नहीं बनाऊगाँ ।'

शील के संरक्षण के लिए सतियाँ हंमेशा कुछ भी करने को तैयार रहती है, जरूरत पड़ने पर अपने प्राण भी न्यौछावर कर देती है, परन्तु कभी शील पर आँच नहीं आने देती ।

शायद अब आपके मन में यह प्रश्न उठे कि ...

प्रश्न : इस प्रकार स्वयं ही अपनी जीभ कुचलकर प्राण त्याग देने का साहस कैसे कर पाते है ?

उत्तर : यह साहस कर पाने के पीछे दो मुख्य कारण है :

(१) शील ही जीवन जीने का सार है, जब ऐसा प्रतीत होता हो, तब ही कोई यह साहस कर पाता है । यदि वो सार ही हाथों से छूटता दिखे, तब तो जीने में भी कोई सार नहीं; ऐसा दृढ निर्धार सतीओं को होता है । फिर किसी भी हालत में जीभ कुचलने में भी कोई हिचकिचाट नहीं होती ।

'शील ही जीवन का सार है' जब यह हृदय में अंकित हो, तब शीलभंग के पहले प्राणभंग कर देना आसान लगता है ।

(२) शील की खातिर प्राण त्यागने का साहस होने का एक ओर दूसरा कारण यह भी है कि उन्हें शील खंडित होने के सामने नरक की असंख्य वर्ष की कठोर वेदना नजर आती है । ऐसी दीर्घ समय की करुण वेदना आँखों के सामने रहने से, उससे बचने के लिए शीलरक्षा की खातिर जीभ कुचलकर मर जाने में अधिक कष्ट नहीं लगता ।

सीताजी भी शीलरक्षा की खातिर प्राण का बलिदान देने को सज्ज थी । उनमें बहादुरी थी, इसलिए रावण को नजदीक न आने के लिए पड़कार सकते है । रावण भी महासती के निर्धार को अच्छी तरह से समझ जाता है ।

रावण की महान प्रतिज्ञा :

रावण की भी एक महान प्रतिज्ञा थी : 'परस्त्री की इच्छा के विरुद्ध भोग नहीं ।' रावण अपनी इस प्रतिज्ञा को दृढतापूर्वक निभाते थे, इसीलिए वो भी सीताजी के करीब नहीं जाता है ।

रावण की भी यह कैसी उत्तमता ! विषयों का आवेग तीव्र है, फिर भी 'परस्त्री की इच्छा के विरुद्ध भोग नहीं ।' अपने सामने ही सीताजी जैसी रूपवती स्त्री है, मगर यदि उसकी मरजी नहीं, तो प्रतिज्ञा तोड़ने का लेशमात्र विचार भी नहीं; ऐसी दृढता रावण ने रखी है ।

इसके लिए भी महान सत्त्व चाहिये कि एकबार प्रतिज्ञा की, संकल्प किया, निर्णय पक्का कर लिया. तो फिर उसका पालन दृढता से करना ही है ।

फिर चाहे परिस्थितियाँ कैसी भी क्यों ना हो, कितनी भी भयानक-डरावनी या चाहे कितने भी प्रलोभन क्यों ना हो, पर प्रतिज्ञा से विचलित होने का प्रश्न ही नहीं रहता ।

सीता जैसी अतिसुंदर और मनपसंद स्त्री है, एकान्त भी है, साथ में है पुष्पों की वाटिका का मनमोहक वातावरण । वैसे भी पुष्पों को तो कामदेव का बाण कहा जाता है । कामोत्तेजक वातावरण में भी रावण अपनी प्रतिज्ञा पर दृढता से टिके रहते है, तो यह उनके सत्त्व की ही निशानी है ।

अब यहाँ एक ओर प्रश्न आ सकता है कि ...

प्रश्न : रावण सत्त्वशाली है, तो सीता के साथ बलात्कार करने का तो प्रश्न ही नहीं और सीताजी स्वयं सहमत हो जाये यह भी असंभव ही था । फिर अंत में तो सीताजी को छोड़ना ही पड़ेगा, तो रावण का नाश क्यों हुआ ?

उत्तर : रावण के नाश का कारण उसका अपना अभिमान बना ।

रावण का अभिमान ! :

रावण को अभिमान था कि, 'सीता माननेवाली ही नहीं है, तो वो मेरे किसी काम की नहीं, फिर उसको कैद करके रखने में क्या फायदा ? वापस सौंप दूँ । पर इस प्रकार छोड़ देने से मेरी ही बदनामी होगी । सब कहेंगे कि, 'राम-लक्ष्मण युद्ध करने आये, तो रावण घबरा गया कि मैं हार जाऊँगा ! उसमें मैं सीता को तो गवाँ दूँगा, साथ में राज्यसंपत्ति भी गवाँ दूँगा !' इसी घबराहट में ही रावण ने सीता को वापस सौंप दिया ।'

क्या में पराजय के ड़र से सीता को सौंप रहा हूँ ? नहीं, नहीं, बिल्कुल नहीं ! युद्ध करके जीत भी सकता हूँ । आज तक मैंने हजारों पराक्रमी, राजा-महाराजा,विद्याधरों को पराजित किये है, तो राम-लक्ष्मण है कौन ? जो मेरे सामने टिक सकें । पहले उन्हें युद्ध में पराजित करूँगा, फिर कैदी बना के राजसभा में खड़े करके सीता का दयादान दे दूँगा; इस प्रकार लोगों में भी मेरी जय-जयकार होगी । सब यही कहेंगें : 'वाह ! देखों रावण को ! कितना बड़ा शूरवीर और उदार हृदयवाला है, जिसने राम-लक्ष्मण जैसे योद्धाओं को जीत भी लिया और सीता का दान भी कर दिया ।'

बस, अपने इसी स्वाभिमान को ऊँचा रखने के लिए, सीता के प्रति अपनी कामवासना दबा देने के बावजूद भी उसने अपने विनाश की नीव रख दी अपने ही अभिमानरूपी पत्थर से । कैसी विचित्रता है ना ? विषय को दबाया तो कषाय जाग उठा ! अभिमानरूपी कषाय जगा रावण में । रावण के लिए अब विषय की आसक्ति छुटी अर्थात् सीता के प्रति होनेवाली वासना तो दब गयी, पर स्वाभिमान आकर सामने खड़ा हो गया है कि, 'ऐसे ही सीता को वापस कैसे सौंप दूँ ?' राम-लक्ष्मण को पराजित करके दयादान में दे दूँ, तो मेरी बदनामी नहीं होगी, शाबाशी मिलेगी ।'

संसार में जब तक विषय और कषायों की सरज़ोरी है, तब तक जीव की क्या कीमत ?

उसे तो एक या दूसरे विषय की गुलामी ही करनी पड़ी ना ! एक या दूसरे कषायों के जाल में ही फँसा रहा ना ! जैसे कि जीव बेचारा सामर्थ्यहीन, वो ना तो विषयों को दबा सके, न तो कषायों को दूर कर सके ! इस गुलामी से आखिर जीव को प्राप्त क्या होता है ?

क्षणिक विषय-सुख, क्षणिक कषाय-आनंद, किन्तु फिर मात्र संताप और परभव में चिरकाल भवभ्रमण ! दुर्गतियों के भयानक दुःख ! यही हाँसिल करना है, इस गुलामी से ? रावण ने अभिमान करके क्या पाया ? सीता पर की आसक्ति तो छोड़ दी, फिर भी सिर्फ अभिमान के कारण चौथी नरक में जाना पड़ा ! तब विषयासक्ति से भी अभिमान कितना ज्यादा दगाबाज !

जागृति का बोधपाठ :

इससे यह सीखने को मिलता है कि संसार में अमुक विषयों का राग छोड़ दो और उनके त्याग के व्रत-नियमादि के धर्म करने लगो, तो भी 'धर्म कर रहे हो' इस बात का संतोष मानकर निश्चिंत होकर बैठा नहीं जा सकता है । क्योंकि दूसरे ओर भी कई विषय-कषायों के राग आत्मा में स्थान जमा कर बैठे है, वो भी उतने ही खतरनाक है और क्रोध-अभिमान-माया-हर्ष-शोक-ईर्ष्यादि कषाय भी मौजूद है, यह भी खतरनाक है । इसीलिए मन को हंमेशा जागृत रखकर सावधानी रखनी चाहिये कि ...

'वाह ! कितना अहोभाग है मेरा ! जो इन विषय और कषायों के जालिम रोगों का नामोनिशान तक मिटा दे; ऐसा धन्वंतरीवैद्य तुल्य जिनशासन मुझे मिला है । तो अब तो जिनशासन रूपी वैद्य की दान-शील-तप-भावना और अहिंसा-संयम-तप और क्षमादि दस गुण; इन तीनों धर्मरूपी औषध का उपयोग करके, इन विषयों और कषायों के भयानक रोगों क्यों ना हंमेशा के लिए मिटा दूँ ? पर इसके विपरीत मैं तो इन रोगों को परिग्रह, विषयों और आरंभ-समारंभ के कुपथ्यों का आसेवन कर बढ़ा रहा हूँ। कितनी बड़ी मूर्खता और मूढता है मेरी !'

'जहाँ मुझे भव्यातिभव्य जिनशासन मिला है, **महान पावनकारी जैनधर्म मिला है; ऐसा महादुर्लभ जिनशासन सहित का मनुष्य अवतार पाकर भी यदि अपनी आत्मा की चिकित्सा नहीं करनी है, ये भवरोग को नहीं मिटाने है, तो बिना जिनशासन वाले किस अवतार में मैं ये जालिम भवरोगों को खत्म कर सकूँगा ? और यहाँ रोग मिटाने में जिनशासन का उपयोग ना करूँ, तो जिनशासन मिलने का क्या अर्थ ?' हर पल यह चिंता होनी चाहिये ।**

इसीलिए महाराजा कुमारपाल हंमेशा यही भावना भाते कि, 'परभव में भले ही राजपाट-वैभव ना मिले, गरीबी मिले, पर जैनधर्म, जिनशासन तो अवश्य ही मिले । क्योंकि उसकी सहायता से ही इन विषय-कषायों रूपी भवरोगों को मिटाया जा सकता है ।'

समकिती श्रावक की प्रतिदिन यही भावना रहती है कि, 'जैनधर्म की सहायता से मेरे भवों-भव के रोग को मिटाता जाऊँ, विषयों की लगन, कषायों का आवेश और कषायों के आशय तक को कम करते-करते खत्म ही कर दूँ ।'

रोज चैत्यवंदन करते समय 'जयवीयराय सूत्र' में हम यही माँगते है : 'दुक्खक्खओ कम्मक्खओ... संपज्जउ ।' इसमें दुःख का क्षय माँगते है, तो कौन-से दुःख के क्षय की याचना की जाती है ? क्या दरिद्रता, व्याधियाँ, गुलामी, मारपीट इत्यादि द्रव्य दुःख का क्षय ? नहीं । विषय-कषाय स्वरूप जो भवरोग यानि भावदुःख है, उसका क्षय प्रभु से माँगा जाता है । क्योंकि जीव को वास्तविक दुःख अर्थात् भाव दुःख रूप विषय-कषाय ही हैं, क्योंकि जीव को गरीबी-व्याधि आदि का दुःख नहीं हो, फिर भी यदि उसे अत्यधिक विषयों की आसक्ति का ताप, क्रोध-मद-माया वगैरह कषाय का ताप है, तो जीव इस संताप में दुःखी ही है । इसी कारण ज्यादा दुःखदायी वस्तु विषय-कषाय रूपी भवरोग ही है, भावदुःख ही है ।

श्रावक को भी अधिक चिंता इन विषय-कषाय रूपी भवरोग अर्थात् भावदुःख की ही होती है कि, 'यहाँ सुलभता से प्राप्त जिनशासन की सहाय से भी यदि जो इन भवरोग, इन भावदुःख को नहीं टाल सकूँगा, तो यह विषय-कषाय जनित ज़ालिम अशुभ कर्म और अशुभ अनुबंधों से परलोक में मेरी कैसी खराब अवदशा होगी ?'

हर श्रावक को यही परलोक-चिंता मुख्य रूप से होती है, उसकी दृष्टि परलोक प्रधान होती है । इसलिए मुख्य तौर पर श्रावक यही बातें लक्ष्य में रखता है :

- **'इस भव में ऐसे विषय और कषाय भावों का सेवन ना कर बैठूँ के जिससे परलोक में मुझे इसके गाढ संस्कारों की गठरियाँ उठा कर ले जानी पड़े ।'**
- 'इस भव में जैनधर्म मिला, उसका सबसे बड़ा उपयोग यही है कि यहाँ दानादि धर्म, क्षमादि धर्म और अहिंसादि धर्मरूपी औषधि की सहाय से विषय-कषाय रूपी भवरोग जड़ से मिटा दूँ ।'

यह विचार करके सिर्फ बैठे ही रहना नहीं है, किन्तु इस धर्म में से संभव हो उतने धर्म को अमल करते चलों । श्रेष्ठ धर्म पालन करके भी निश्चिंत न बैठो कि, 'चलो ! धर्म भलीभाँती कर रहे है, अब किसी बात की फिक्र ही नहीं है' इस प्रकार निश्चिंत न बने, पर जागृत मन से सावधानी पूर्वक देखते रहे कि ....

(१) इस-इस धर्म क्रिया को करने से मेरे विषय रोग, कषाय रोग कितने-कितने कम हुए ? और

(२) अभी भी मुझमें कितनी बड़ी मात्रा में विषय रोग और कषाय रोग है ?

शालिभद्रादि को महावैभव भी अचानक एकदम से कैसे छुटा ? भवरोगों की ही भारी चिंता के कारण :

शालिभद्र आदि पूर्व के महापुरुषों के जीवन चरित्र को पढ़ेंगे, तो आप जान पाओंगे कि उन्हें भवरोगों की चिंता इतनी ज्यादा सताने लगी कि प्रबल वैराग्य भाव पाकर बड़े से बड़ा वैभव भी क्षण भर में छोड़ कर निकल पड़े । इन विषय-कषाय रूपी भवरोग के कारण सर्जन होनेवाली नरक आदि दुर्गति की भयंकर वेदनाओं के दुःख से डरकर, इन रोगों को जड़ सहित उखाड फेंकने के लिए औषधरूपी

अहिंसा-संयम-तप का जीवन स्वीकार करके बड़े से बड़ा वैभव-विलास भी त्याग दिया, तो क्या इसमें आश्चर्य है ? नहीं । फिर भी आपको आश्चर्य होता है कि,

- 'अरे ! जम्बूकुमार ने निन्नानवे क्रोड सोने की संपत्ति मात्र एक ही देशना सुनकर छोड़ दी !'
- 'शालिभद्र ने प्रतिदिन नियमित देवताओं द्वारा दी जानेवाली निन्नानवे पेटी और देवांशी जैसी बत्तीस नवयौवना पत्नी एकाएक ही त्याग दी ।
- 'धन्यकुमार बत्तीस क्रोड सोने की संपत्ति प्रभु वीर की मात्र एक ही देशना सुनकर सर्वत्याग करके निकल पड़े, धन्ना अणगार बन गये... !'

इस प्रकार आश्चर्य लगता है ना ? क्यों आश्चर्य होता है ?

आप भवरोग के सामने धिट्ठ बनकर वैभव-विलास का त्याग नहीं करते; क्या यही बड़ा आश्चर्य नहीं है ?

और यदि कोई इस भवरोगों को मिटाने के लिए सब त्याग करता है, तो वो आश्चर्य लगता है ?

सच्ची बात तो यह है कि विषयों की अर्थात् संसारी पदार्थों की माया को और क्रोध-मान-माया वगैरह कषायों के भयंकर परिणामों को अनदेखा करते है और विषय-कषायों के तात्कालिक आनंद को महत्त्वपूर्ण समजते है, इसलिए ही 'इन सुख के साधनभूत विषयों को लेने की जी तोड़ कोशिश करना, उसे पाना और फिर भोगना' यही सहज लगता है । इसका त्याग आश्चर्यकारी लगता है । वाह ! आपकी बुद्धि ! वाह ! कैसी विपरीत दृष्टि !

दृष्टि सुधारने की आवश्यकता है :

अनन्तज्ञानी भगवंतों अज्ञानी नहीं थें कि उन्होंने बिना सोचे ही सर्वत्याग का उपदेश दे दिया; और सनत्कुमार चक्रवर्ती, मेघकुमार, गजसुकुमाल, मेतारज मुनि... वगैरह महासमृद्ध महापुरुषों भी अज्ञानी नहीं थे कि उन्होंने ऐसे ही बिना सोचे सर्वत्याग का जीवन अपना लिया !

तब जहाँ त्यागमार्ग के उपदेशक सर्वज्ञ भगवंत हो और त्यागमार्ग के आराधक बड़े चक्रवर्ती हो, वहाँ **'जीवन में त्यागमार्ग की आराधना ही सर्वस्व है'** ऐसी दृष्टि होनी चाहिये । अगर ऐसी दृष्टि बन गयी, तो फिर निश्चित रूप से

जीवन की महानता त्याग और सिर्फ त्याग में ही दिखेगी, और भोगों में सिर्फ बरबादी ही नजर आयेगी ।

जब ऐसी दृष्टि बन गयी कि 'जीवन का सर्वस्व त्याग में ही है' तब यदि कोई महासमृद्धि को छोड़कर सर्वत्याग के मार्ग पर अचानक आरूढ हो जाये, तो भी आश्चर्य कभी नहीं होगा । वैसे भी आश्चर्य हो, तो इस बात पर होना चाहिये कि, 'इतनी महान विभूतियों ने महात्याग, सर्वत्याग के मार्ग को अपना लिया है, तो मैं क्यों आज तक और आज भी इन सर्वसाधारण भोगों के पीछे पड़ा हूँ, एक भिखारी की भाँति ?'

आज उल्टी गंगा बह रही है ! सब उल्टे हिसाब में लगे हैं ! जिस वैभव-विलास में सरासर बरबादी ही छूपी है, वहाँ आबादी दिखती है । इसी कारण तो जब त्याग की बात आती है, तो हमें आश्चर्य होता है । स्वयं की मूर्खता-मूढता नहीं देख पाते कि, 'मैं कितना मूर्ख, मूढ, गँवार, बुद्धिहीन और उल्टी अक्कलवाला ? बुद्धिमत्ता तो इन खोखलें वैभव-विलास और विषय-कषायों के त्याग में ही है ।'

इसी कारण अग्निकुंड का दिव्य करके महायश पाने के बाद और अब निश्चित तौर पर वैभव-विलास के अवसर मिलने के बावजूद भी सीताजी सर्वत्याग करके चारित्रजीवन का अंगीकार करते है । इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये, बल्कि मन को सबक मिलेगा कि, 'मैं क्या अभी भी विषयों के कूडे-कचरे को ही चाटता रहूँगा ? क्यों मैं भी सीताजी की नक्शे कदमों पर चलकर त्याग मार्ग नहीं अपना लेता ?'

महासती सीताजी के जीवन की यशोगाथा गाते समय उनके इस महायश और महाविलास मनाने के अवसर पर भी चारित्र-स्वीकार करनेवाला यह प्रसंग भी एक अति उच्च कोटि के उदाहरण रूप में सामने आता है ।

उसी तरह उनके चारित्रपालन करने का प्रसंग भी उच्च कोटी से ऊभर कर आता है, क्योंकि वो चारित्र का पालन करके बारहवें अच्युत नाम के वैमानिक देवलोक में इन्द्र के रूप में अवतारित हुए है । मन में यह प्रश्न आना संभव है कि...

प्रश्न : अच्युत देवलोक के इन्द्र बनने में इतनी बड़ी क्या विशेषता है ?

उत्तर : हाँ, महाविशेषता है; क्योंकि इस जगत में पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह है । वहाँ जब तीर्थंकर प्रभु का जन्म होता है, तब मेरूशिखर पर इन्द्र जन्माभिषेक करते है । मेरूशिखर पर त्रेसठ इन्द्रों के साथ क्रोडों

देवी-देवता के बीच प्रभु का जन्माभिषेक करने का सर्वप्रथम अधिकार अच्युतेन्द्र को मिलता है। वहाँ कोई बोली नहीं बोली जाती, पर यह तो सृष्टि का ही सर्वकाल का निश्चित नियम है कि जब तीर्थंकर भगवान का मेरूपर्वत पर जन्माभिषेक होता है, तब सर्वप्रथम अभिषेक अच्युत इन्द्र ही करते है। बिना बोली के ही और दूसरे इन्द्रों से अनबन तो दूर, बल्कि आदर-सन्मान-गौरव के साथ सीता-इन्द्र को प्रथम जन्माभिषेक का सृष्टि-सिद्ध अधिकार मिला है।

सीता-इन्द्र ने किये सर्वप्रथम अर्हज्जन्माभिषेक :

उन्हें कितने प्रभु का पहला अभिषेक करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हैं; आप जानते भी हो ? पाँच-पच्चीस, सौ-दोसौ या लाख-दो लाख नहीं, किंतु असंख्य जिनेश्वर प्रभु के सर्वप्रथम अभिषेक का लाभ ! असंख्य अर्थात् कितना ?

लाखों, करोड़ों, अबजों या परार्धों नहीं, परार्धों के परार्धों भी नहीं, क्योंकि यह संख्या तो समुद्र के सामने एक बूँद जितनी ! अरे बड़े-बड़े लाखों योजन के समुद्र के भी बूँद गिनने जायेंगे, तो उसकी संख्या भी होगी - सिर्फ संख्यात ! जबकि यह तो असंख्यात की संख्या। असंख्यात की संख्या का माप तो शास्त्रों द्वारा कहे अनवस्थित-शलाका-प्रतिशलाका-महाशलाका नाम के चार प्यालों के दृष्टांत से समझ सकेंगें। अच्युतेन्द्र बने सीताजी को कितने सारे तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का लाभ लेने का सौभाग्य मिलेगा !

अच्युतेन्द्र का आयुष्य बावीस सागरोपम का अर्थात् दो सौ बीस (२२०) क्रोडा-क्रोडी पल्योपम का हुआ और एक-एक पल्योपम असंख्य वर्षों का होता है।

देखों, अच्युतेन्द्र के सौभाग्य की खूबी ! एक पल्योपम में असंख्य वर्ष होते हैं, उतने समय में पाँचों महाविदेह क्षेत्रों में असंख्य तीर्थंकर जन्म लेते हैं। उन सब तीर्थंकरों के प्रथम जन्माभिषेक का लाभ अच्युतेन्द्र को मिलता है। यह तो मात्र एक पल्योपम की बात की, अब सोचों ऐसे दो सौ बीस क्रोडा-क्रोडी पल्योपम के काल में कितने असंख्य अरिहंत भगवंतों का सर्वप्रथम अभिषेक का लाभ !

२२० क्रोडा-क्रोडी काल कितना होता है, मालूम है ? :

समझना हाँ, मात्र २२० पल्योपम नहीं, २२० सौ पल्योपम नहीं, २२० हजार पल्योपम नहीं, २२० लाख पल्योपम भी नहीं, किन्तु २२० क्रोड पल्योपम यानि

दो अबज, बीस क्रोड पल्योपम ! यह दो अबज, बीस क्रोड पल्योपम का काल भी एकबार नहीं, सौ-हजार-लाख बार भी नहीं, किन्तु क्रोड बार ऐसे २२०-२२० पल्योपम जितना समय व्यतीत होने पर २२० क्रोडा-क्रोडी पल्योपम का काल होता है । इतना आयुष्य होता है अच्युतेन्द्र का !

अब सोचों ! सीताजी को अच्युतेन्द्र बनने पर कितने तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का लाभ मिलेगा !

कल्पना करें ! २२० क्रोड में से अगर २० क्रोड साइड में भी रखें, तो भी २०० क्रोड यानि दो अबज समझों । यह दो अबज पल्योपम सौ-हजार-लाख बार नहीं, पर एक क्रोड बार होगा, तो कितना दीर्घ काल होगा ! उस पर २०-२० क्रोड पल्योपम एक क्रोड बार बीते, तो इतने दीर्घ काल तक असंख्यात तीर्थंकर भगवान को मेरूपर्वत पर सबसे प्रथम जन्माभिषेक करने का जन्मसिद्ध अधिकार अच्युतेन्द्र को मिलता है !

सीताजी ऐसे असंख्यात जिनेश्वर देवों के प्रथम जन्माभिषेक के अधिकारी अच्युतेन्द्र बने है । अब आप स्वयं ही सोचो कि जीवंत तीर्थंकर भगवंत को मेरूपर्वत पर ६३ इन्द्रों और क्रोडों देवताओं के बीच प्रथम जन्माभिषेक करने का सद्भाग्य एकबार भी मिल जाएँ, तो वह भी कितना बड़ा सुकृत ! तब असंख्य बार प्रथम जन्माभिषेक का सद्भाग्य मिले, तो वे कितने असंख्य सुकृत !

इन जीवंत प्रभु के जन्माभिषेक करने के समय अंतरात्मा-हृदय में कितने सारे उच्च स्तर के शुभ अध्यवसायों की तरंगे उछलती होगी ! ऐसा एक पल्योपम में असंख्य बार सुकृत के हिसाब से दो अबज बीस क्रोड पल्योपम के असंख्य बार में कितने-कितने बड़े भाव-सुकृत होंगे !

५. साधनात्रयी

अब सोच का विषय यह है कि इस इन्द्र के अवतार में इन असंख्य जिनेश्वरों के जन्माभिषेक रूपी उच्च जिनभक्ति के कितने सुकृत और उन सुकृत करते समय उनके हृदय में असंख्य बार उछलते शुभ और उच्च अध्यवसायों के पीछे सीता-साध्वीजी की संयम जीवन में कितनी उच्च विशुद्ध सम्यक्त्व की परिणति, कितनी उच्च अहिंसा-संयम-तप की साधनाएँ और अरिहंत प्रभु पर कैसा उत्तम भक्तिभाव सक्रिय रहा होगा ।

महासती की आराधना में तीन चीज हैं :

(१) अतितेजस्वी सम्यग्दर्शन ।
(२) अहिंसा-संयम-तप ।
(३) अरिहंत देव के प्रति उछलता भक्तिभाव ।

तेजस्वी जाज्वल्यमान सम्यग्दर्शन तो सीताजी ने गृहस्थवास से ही हृदय में बसा लिया था । इसीलिए तो जंगल में तिरस्कार करके असहाय छोड़े गये, तब उन्हें छोड़कर जानेवाले रोते हुए सेनापति से सीताजी कहते है :

सीताजी ने क्या कहा सेनापति को ? :

'आप क्यों रो रहे है ? इसमें आपका क्या दोष है ? आप तो अपने स्वामी के सेवक हो और उनकी आज्ञा तो पालनी ही चाहिये; यह तो गुण है, दोष नहीं । उसी प्रकार अपने स्वामी की आज्ञांकित पत्नी होने के कारण मुझे भी उनकी आज्ञा पालनी ही चाहिये । इसलिए मैं इस रथ में से नीचे उतर जाती हूँ । पर इसमें तुम्हारा तो नहीं, पर मेरे स्वामी का भी कोई दोष नहीं मानना । उसी प्रकार मेरी निंदा करनेवालों का भी दोष नहीं मानना । क्योंकि दोष तो मात्र मेरे

ही पूर्व के किये कर्मों का है। मेरे ही अशुभ कर्म ऐसे है कि जो लोगों को मेरी निंदा करने में प्रेरित करते है, और उसके कारण मेरे स्वामी भ्रमित हो रहे हैं। अब आप सब चिंता छोड़ के वापस चले जाइये। और यहाँ मेरा क्या होगा ? इसकी भी चिंता न करें। जैसे महलों में बसते समय मेरे कर्म ही कार्य कर रहे थे, वैसे ही यहाँ भी इस जंगल में जैसे मेरे कर्म होंगे, उसी प्रकार होगा।'

ज्ञानी भगवंत कहते है :

'सव्वं पुव्वकयाणं, कम्माणं पावए फलविवागं ।
अवराहेसु गुणेसु य, निमित्तमित्तं परो होई ।।'

'जीव जो भी अच्छी या बुरी भौतिक चीजे पाता है, वह सब उसके स्वयं के पूर्वकृत कर्मों के फल के अनुरूप ही पाता हैं। अच्छा या बुरा होने में दूसरे तो निमित्तमात्र बनते है, मूल कारण तो स्वयं के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही है।'

सीताजी सेनापति से कहते हैं : 'मेरे ही ऐसे अशुभकर्म उदय में आये, तब उसका फल तो ना आप रोक सकते हो, ना ही मेरे स्वामी रोक सकते है ! इसलिए यह घटना कर्म के आधीन है, इसे कर्म के हवाले छोड़ दो और आप स्वामी के पास कुशल लौट जाओ।'

कहिये, इन वचनों में सीताजी का सम्यग्दर्शन कैसे झगमगा रहा है। सम्यग्दर्शन जिनवचनों की असीम श्रद्धा पर निर्भर है। यह श्रद्धा भी हृदय से होनी चाहिये, नहीं कि सिर्फ बातों से ही ! हृदय से श्रद्धा हो, तो ही कुछ भी अच्छे-बुरे प्रसंग उपस्थित हो जाये, तब ही श्रद्धा सक्रिय बन सकती है।

जब सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा हो, तब अपने आप में घमंड नहीं होगा, बल्कि कर्मशक्ति को ही प्रधान देखोंगे। इसलिए जब कमाई अच्छी होगी, तो 'मैं कितना अच्छा कमा रहा हूँ !' ऐसा अभिमान का पारा नहीं चढेगा, पर वो तो समझेगा कि, 'सब कर्मों का खेल है ! आज ऐसे अच्छी तरह साथ चल रहा है, शायद कल विदा लेकर विपरीत चाल भी चलने लगे। इसलिए अच्छा बने तब बहुत खुश होने की जरूरत नहीं।' यदि वास्तव में ऐसी सोच बनी रहे तो माना जाये की सम्यग्दर्शन की श्रद्धा सक्रिय है। इसे ही ज्ञानियों के वचनों की हृदय से श्रद्धा कहीं जायेगी।

इसलिए ही जब कुछ भी बुरा प्रसंग होगा, तो न किसी पर गुस्सा होगा, ना ही किसी को गाली देने का मन होगा । वो तो समझ के बेठा है कि, 'यह तो मेरे कर्मों का ही फल है । इन्हें एकबार भुगत लूँगा तो ये कर्म चले जायेंगे ।'

भाई के हाथों मरे पति को महासती मदनरेखा ने क्या कहा था ? :

यही कि, 'भाई पर गुस्सा क्यों कर रहे हो ? देखों, भुलना मत, ये जो भी हुआ है, आपके स्वयं के पूर्वकृत कर्मों के कारण ही हुआ है । भाई तो बेचारा निमित्त मात्र है । उस पर गुस्सा करने से क्या फायदा ?'

'भाई तो कुल्हाडी की मुठिया मात्र है, कार्य तो कुल्हाडी करती है ना ? लकड़ी कट जाती है, उसमें जिम्मेदार कुल्हाड़ी है, नहीं कि मुठिया ! वैसे ही आप को मारनेवाले आप के कर्म है, आपका भाई नहीं है; इसलिए भाई के प्रति क्रोध किया हो, बुरा सोचा हो, तो मिच्छामि दुक्कडं कह दो ।'

'माफी माँग लो कि 'तेरा बुरा चाहा इसलिए मुझे क्षमा कर दो ।' 'तेरा भला हो' ऐसी मैत्रीवाली भावना लाओं और फिर 'अरिहंते शरणं...' आदि चार शरणों को स्वीकार करके सर्व दृष्कृतगर्हा करो, सुकृतों की अनुमोदना करो तथा नमस्कार महामंत्र के ध्यान में लीन हो जाओं ।'

मदनरेखा के इस उपदेश ने गजब का कार्य किया ! पति क्षमा और उपशम भाव में आ गया ! समाधि-मृत्यु मिली ! और पाँचवें देवलोक में देव बना ! यहाँ पर मदनरेखा ने यदि जो कर्म-सिद्धांत समझाने के बजाय यदि 'तुम्हारा भाई कितना दुष्ट है' ऐसी बाते कहकर भाई का दोष दिखाया होता, तो क्या होता ? पति के कषाय में वृद्धि ही होती ना ? और उसके कारण तो मरकर सीधा नरक में ही जाता या कही ओर ?

जिनशासन और सम्यग्दर्शन पाये हुए की विशेषता यही है कि जिनशासन जो तत्त्व कहता है और सम्यग्दर्शन जो श्रद्धा करवाता है, वो तत्त्व-श्रद्धा यही है : 'अपने साथ होनेवाले अच्छे-बुरे के लिए उसके अपने ही शुभ-अशुभ कर्म कारण है ।'

इस सिद्धान्त पर आधारित अचल श्रद्धा का ही नाम है : निर्मल सम्यग्दर्शन । ऐसा सम्यग्दर्शन महासती मदनरेखा के हृदय में बसा था, इसलिए अपने प्राणप्रिय

पति की उन्हीं के बड़े भाई के हाथों हत्या हो और स्वयं के विधवा होने की भयंकर घडी में भी उन्होंने इतना धैर्य रखा । यह महासती अपने मरते हुए पति को कर्म सिद्धांत याद हृदयाती है । भाई के प्रति जो द्वेष जगा था, उसे छुड़वाकर भीगे हृदय से क्षमा देने का और भाई का जो भी बुरा सोचा था, उसकी क्षमा माँगने का कहती है ।

विचार करने जैसा है कि मदनरेखा एक युवराज की रूपवती युवान पत्नी और उनके लिए आज कितना महाकठिन समय ! उस कठिन अवसर पर भी कितनी तत्त्व भरी विचारधारा ! मरते हुए पति को भी कैसा तात्त्विक उपदेश ! किसके प्रताप से ? कहो, झगमगाती तत्त्वश्रद्धा और जाज्वल्यमान सम्यग्दर्शन के प्रताप से ।

वैसे ही, महासती सीताजी वन में छोड़कर जानेवाले सेनापति को तत्त्वदर्शन करवाते है कि, 'मेरी इस स्थिति के लिए आप जिम्मेदार नहीं हो, ना ही मेरे स्वामी, ना ही वे निंदक लोग, दोष मात्र मेरे ही पूर्व कर्मों का है और मेरी संसार वासनाओं का ! इसलिए आप रोओ मत और स्वामी को भी कहना कि 'आपको ऐसा करना पड़ा, उसमें आपका कोई दोष नहीं, मेरे ही पूर्वकृत कर्मों का ही गुनाह है ।'

महासती सीताजी ! जो महान राजरानी है, पति ने उन्हें बिना किसी अपराध के जंगल में अकेले, असहाय तिरस्कार करके भेज दिया; राजरानी जैसे बड़े पद पर बैठने वाली सीताजी को यह कितना भयंकर दुःख ! इससे बड़ा भयंकर दुःख यह कि वो स्वयं पवित्र महासती, निष्कलंक शीलवती होने के बावजूद भी लोक में कलंकित हुई कि, 'यह सीता तो परपुरुष रावण के घर पर रहकर आयी है, इसलिए असती ही कहलायेगी ।' यह झूठा कलंक ही सबसे बड़ा दुःख; क्योंकि अपने शील-सतीत्व को अखंडित रखने के लिए चाहे कितने भी प्रलोभनों आयें या चाहे कितने भी डरामणे भय भी आये; इन सब का अतिक्रमण कर के भी शील को बचाये रखा था, क्या इसका यह सन्मान !

तब देखने की बात यह है कि ऐसी परिस्थिति में भी उन्होंने सम्यग्दर्शन की यह तत्त्वश्रद्धा अखंडरूप से ज्वलंत रखी ! तो इन्हीं सीताजी की साध्वी बनने के बाद में तत्त्वश्रद्धा कैसी जोरदार रही होगी ! उनका सम्यग्दर्शन भी संयम की सहायता से कितना ज्यादा ज्वलंत बन गया होगा !

यह देखना इसलिए भी जरूरी है कि अच्युतेन्द्र बनने के पीछे और असंख्य तीर्थंकरों के सर्वप्रथम जन्माभिषेक को लाभ मिलनेवाले अधिकार के पीछे साध्वी सीताजी का सम्यग्दर्शन कितना ज्वलंत होगा; इसका खयाल आता है ।

चारित्रजीवन दौरान सम्यग्दर्शन में तो कर्मसिद्धान्त की श्रद्धा को अमल के द्वारा सक्रिय करने के साथ-साथ ही दूसरी ओर कई कल्याणकारी जैसे समिति, गुप्ति, परीषह, क्षमादि... यतिधर्म वगैरह संवर तत्त्व की श्रद्धा को आचरण के द्वारा सक्रिय करने का बड़ा जोश रहता है ।

सम्यग्दर्शन जितना ज्यादा जोरदार, जितना ही ज्यादा निर्मल, उतनी ही संवर तत्त्व की श्रद्धा और अमल भी जोरदार बनता है । और यह जोरदार अमल से श्रद्धाबल ओर भी प्रबल बनता जाता है ।

सीता साध्वीजी ने यही किया था, इसीलिए तो उनके अहिंसा-संयम-तप की साधना भी ज्यादा प्रबल और सम्यग्दर्शन भी अधिक से अधिक निर्मल और ज्वलंत बनता जाये, उसमें कोई अचरज नहीं !

यह खास ध्यान में रखने जैसा है : शास्त्रकारों का कहना है कि चारित्रजीवन में भी शक्ति हो, तो सन्मतितर्क इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन करें, जरूरत पड़े तो दोषित भिक्षा का सेवन करके भी करें, क्योंकि सम्यग्दर्शन को अधिक निर्मल बनाने के लिए यह जरूरी गिने जाते हैं । प्रश्न होगा कि,

प्रश्न : सम्यक्त्व का फल विरति है, '**ज्ञानस्य फलं विरतिः**', '**ताणी आणे रे समकित विरति ने**' ऐसा उपाध्यायजी महाराज ने कहा है, यह विरति अर्थात् चारित्रधर्म एकबार स्वीकार लिया, तो फिर अधिक से अधिक पुरुषार्थ तो चारित्र को उत्तम बनाने में ही होना चाहिये ना ? तो अब समकित को ज्यादा निर्मल बनाने का पुरुषार्थ क्यों ?

उत्तर : इसका जवाब यही है कि जैसे-जैसे समकित अधिक निर्मल बनता जायेगा अर्थात् तत्त्वश्रद्धा और जिनवचन-श्रद्धा बढती जायेगी, जैसे-जैसे जिनवचन-राग का बल बढता जायेगा, वैसे-वैसे ही जिनवचनों का पालन भी अर्थात् चारित्र पालन करने की शक्ति और जोश भी बढते जायेंगे । व्यवहार में भी देखों :

'श्रद्धा के बल से अमल बलवान' इसके उदाहरण :

- सुशील पत्नी को पति के वचन पर जितना अत्यधिक राग, उतना ही उनके शब्दों पर अमल करने का जोश, उत्साह और उमंग ज्यादा होती है ।
- कामांध पति को पत्नी पर प्रेम-राग ज्यादा है, तब उसे पत्नी के बोलने के अनुसार अमल करने का जोश, उत्साह भी अधिक होता है ।
- प्रसिद्ध और निष्णात (तर्जुबेदार) वैद्य या डॉक्टर पर विश्वास करनेवाले मरीज या बिमार व्यक्ति कौन-कौन-सी दवा कब-कब लेनी है ? परहेज क्या-क्या करने है ? सावधानीयाँ कौन-कौन-सी बर्तनी है ? इत्यादि बातों पर खास अमल करेंगे ।
- तर्जुबेदार या एक्सपर्ट कारीगर से कारीगरी सिखनेवाला उसकी शिक्षण-पद्धति पर अपने श्रद्धाबल के हिसाब से स्वयं की बुद्धि को एकतरफ रखकर शिक्षक के वचनों का जोरदार अमल करेगा ।

आप जानते ही होंगे कि, जब एक चित्रकार पिता ने अपने पुत्र को चित्रकारी सिखाते समय, पुत्र को एक योग्य चित्रकार बनाने के लिए एक तरकीब आजमायी । अपने ही पुत्र के बनाये चित्र में प्रतिदिन नयी-नयी चार गलती को ढूँढ निकालते और ठीक करवाते । पुत्र को भी तो उन पर अत्यधिक राग और श्रद्धा थी, इसलिए उनके वचनानुसार चलता रहा और श्रद्धापूर्वक अमल करता रहा । केवल छ माह में तो वो होंशियार चित्रकार बन गया ।

बस, इसी तरह चारित्र-जीवन में भी जैसे-जैसे जिनवचनों पर राग अर्थात् सम्यग्दर्शन स्वरूप श्रद्धाबल बढता जाता है, वैसे-वैसे ही जिनवचनों का पालन करने का जोश भी बढता जाता है । इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है । इसी कारण चारित्र जीवन में भी सम्यग्दर्शन को तरह-तरह के अनेक उपायों द्वारा अधिक से अधिक प्रबल, ज्यादा से ज्यादा निर्मल बनाते रहना है ।

महासाध्वी सीताजी ने ऐसा किया होगा, इसीलिए उन्हें बारहवें देवलोक के इन्द्र का अवतार मिला ! और उस भव में उन्हें सम्यग्दर्शन को अधिकाधिक निर्मल बनाने वाला असंख्य तीर्थंकर भगवंतो का प्रथम जन्माभिषेक करने का अवसर मिला !

इसमें जैसे सम्यग्दर्शन अर्थात् जिनवचनों पर श्रद्धा और जिनवचनों पर अत्यधिक राग कारण था, उसी प्रकार जिनेश्वर प्रभु के प्रति भक्ति-राग भी प्रबल कारण था। सीता के भव में यदि उनका जिनभक्ति-राग प्रबल ना होता, तो इन्द्र के भव में इतना उच्च भक्तिभाव कैसे आता ?

प्रश्न : तामलि तापस तो मिथ्यादृष्टि था। तापस के भव में तो जिनभक्ति-राग ही नहीं था। और वो मृत्यु के बाद इशानेन्द्र बना, तो इन्द्र के भव में उसमें जो जिनभक्ति-राग हुआ, वह पूर्व के किस भव से आया हुआ था ?

उत्तर : यहाँ दो बातें समझने जैसी हैं।

तामलि तापस की वैराग्य-विचारधारा :

(१) तामलि तापस भले ही मिथ्यादृष्टि था, पर उसने परमात्मा के मुक्त स्वरूप को समझा था और उसके प्रति जो अथाग राग और श्रद्धा की थी, वही दूसरे भव में जिनभक्ति-राग में पलट गई। भगवान पर हुए राग के कारण ही तो उन्होंने घर-संसार छोड़ा था और तापस जीवन का स्वीकार किया था।

उस समय उनके यही भाव थे कि, 'मोह-मायाजाल में तो जनमो-जनम तक घुले रहे। पशु-योनि में तो मोह-मायाजाल का सेवन किया ही था, पर अनार्य म्लेच्छ मानव के अवतार में भी बहुत सेवन किया। परन्तु अब जब उच्च आर्य मानव अवतार मिला है तब, यहाँ भी यदि मैं इसी मोह-माया के जाल में फँसकर बैठा रहूँगा, तो फिर कब और किस जनम में भगवान को भजूँगा ? वह तो तभी कर पाऊँगा, जब यह सब छोड़कर दूर जंगल चला जाऊँ, तो ही एकाग्रता से प्रभुभक्ति कर सकूँगा' यह सोच-समझ से ही वो तापस बना था। इसमें मुख्य बात तो प्रभुभक्ति की थी, तो उसे भवांतर में प्रभुभक्ति पर विशेष राग क्यों नहीं होगा ?'

यहाँ यह प्रश्न उठना भी सहज है कि ...

प्रश्न : पर उसको जैनधर्म ही नहीं मिला था, इसलिए उसे तो भगवान की सच्ची पहचान ही नहीं थी, तो फिर उसमें परमात्म भक्ति के भाव कैसे आये; जो उन्हें भवांतर में-इशानेन्द्र के भव में विरासत में मिले, ऐसे कैसे कह सकते है ?

उत्तर : उसको भगवान की इतनी तो पहचान थी ही कि, प्रभु मोहमाया से पर

होते है । भगवान की ऐसी छवि को उन्होंने आदर्श बनाके अपनी नजर के सामने रखी थी ।

सामने आदर्श जैसे रखोंगे, वैसा बनने का मन होगा ही ।

तामलि ने मोहमाया से मुक्त परमात्मा को अपने आदर्श बनाये । इसीलिए तो जब वो तापस थे, तब भवनपति देवलोक की देवियाँ उन्हें प्रलोभन देकर मनाने आयी कि, 'यदि आप हमारे मालिक इन्द्र बनने का नियाणा करों, हम आपकी बहुत सेवा करेंगे ।' तब तामलि विचार करने लगा कि –

'साठ हजार वर्ष छठ्ठ के पारणे छठ्ठ और पारणे में भी इक्किस बार पानी से धोये हुए चावल से आयंबिल के तप में खाने–पीने और रस की माया का त्याग किया, वो क्या ऐसे नाशवंत विषयों की मोहमाया के लिए ? भले ही वे विषयों देवलोक के भी क्यों न हो ? तप, रसत्याग वगैरह यह नाशवंत विषयों के लिए नहीं, बल्कि जहाँ सदाकाल के लिए विषयों–मोह–माया का स्पर्श भी नहीं, ऐसे मोक्ष को पाने के लिए किया है ।'

बस, इसी सोच के कारण देवियाँ पर नजर भी नहीं डाली, तो जवाब देने की तो बात ही कहाँ रही ? वो ध्यानस्थ और ध्यान में ही यूँ ही बैठे रहे । अंत में देवीयाँ ही थक–हार के उस पर थूककर चली गई !

अब सोचो कि जिस तामलि तापस के मन में मोह–माया के त्याग की और संपूर्ण मोह–मायारहित मोक्ष की लगन हो, तो उन्होंने परमात्मा के कैसे स्वरूप को मन में बसाया होगा ? क्या वो मोह–मायावाले प्रभु के स्वरूप को मानता होगा ? नहीं; बस, यही कारण है कि उनके मन तो मोह–माया रहित स्वरूप बसा था, वो भी उसी रास्ते को अपनाते हुए... अर्थात् स्वयं ने भी मोह–माया का त्याग कर के प्रभु को हृदय में बिठाया; इसी का नाम प्रभु–भक्ति ! सच्ची भक्ति ! अतूट–निःस्वार्थ भक्ति !

बाकी, प्रभु के समक्ष अनेकों बार भक्ति–गीत के मंजिरें बजाये, मगर यदि मोह–माया यानि आहार–विषय–परिग्रह–निद्रा और कषायों की संज्ञा का पूरे तरह पोषण करते जाना है, कहीं कोई भी त्याग–अभिग्रह की बात ही नहीं रखनी, तो वह मंजिरें बजाने की प्रभु–भक्ति से आत्मोत्थान कैसे होगा ?

तामलि को यह समझ आ चुका था कि, **'भगवद्–भजन के लिए ही मिला हुआ यह महा कीमती, अनमोल, पवित्र मानवभव मोह–माया की गुलामी में क्यों व्यर्थ करूँ ? इसलिए उठ जीव उठ, अब यह सब छोड़ और लग जा भगवद्–भजन में, भगवद्–भक्ति में !'** इस प्रकार वो महातापस बना था। इससे इतना तो सुनिश्चित होता है कि,

भगवान के प्रति उच्च कोटि की वास्तविक भक्ति क्या है ? :

यही है कि मोह–माया और यहाँ तक कि शरीर की ममता का भी त्याग करके भगवान का ही ध्यान, भगवान के ही गुणगान और भगवान के ही रंग में रंग जाना है।

तामलि तापस ने मोह–माया से सर्वथा अलिप्त ऐसे प्रभु की भक्ति की हो, फिर ईशानेन्द्र बनकर भगवान का परम भक्त बने और असंख्य तीर्थंकर भगवंतो का मेरूपर्वत पर जन्माभिषेक करने का अपूर्व मौका मिले, तो अचरज किस बात का ? तामलि इसी कारण मिथ्यादृष्टि तापस होते हुए भी इन्द्र बने और परमात्म भक्ति पायी; उसका यह एक कारण है।

(२) दूसरा कारण यह है कि शास्त्र में यह भी आता है कि अंत में तामलि तापस को जंगल में जैनमुनि के दर्शन हुए। उन्हीं मुनि से तामलि तापस को निर्यामणा, वास्तविक त्याग और जैनधर्म का परिचय प्राप्त हुआ। उसी परिचय में उसे वीतराग परमात्मा की सच्ची पहचान भी हुई होगी और भक्तिभाव भी बढ़ा होगा। फिर आगामी भव में ईशानेन्द्र के अवतार में अद्‌भुत जिनभक्ति पायी हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। थोय–स्तुति में बोला जाता है कि,

'ते जिनपूजाथी आराधक ईशान इन्द्र कहायाजी'

अर्थात् ईशान इन्द्र अपने देवविमान के जिन–मंदिर में रत्नमयजिनबिंबों की उत्साहित हृदय से भक्ति करते थे, सिद्धाचलजी महातीर्थ का, वहाँ के मंदिरों का जिर्णोद्धार करके महान उद्धारक बने थे। यह स्थापनाजिन – यानि मंदिरें और मूर्तियाँ की भक्ति थी, तथापि ईशानेन्द्र जिनभक्ति के महान आधारक रूप में गिने जाते है। इन सबके मूल में पूर्वभव की परमात्मा भक्ति ही है।

बस, सीताजी भी बारवें देवलोक के इन्द्र बने और उच्च कोटि की जिनभक्ति पायी, इसके पीछे उन्होंने पूर्वभव में साध्वी जीवन में कैसी उच्च अरिहंत भक्ति से हृदय को भिगोया होगा ? यह सूचित होता है । इन्द्र का भव भी साध्वीजीवन की प्रभुभक्ति का प्रभाव ! और असंख्य परमात्मा के सर्वप्रथम जन्माभिषेक में अजब-गजब की जिनभक्ति; यह भी साध्वीजीवन की प्रभुभक्ति का प्रभाव !

इस दृष्टान्त से, जिनभक्ति को जीवन का श्रेष्ठ कर्तव्य समझो ।

उत्तम मानवजीवन मिला है ना ? तो यहाँ ऐसी अरिहंत भक्ति कर लेनी चाहिये । भगवान ने जिसे स्वयं अपनाया और विश्व को भी उपदेश देकर समझाया, उस मोह-माया का महात्याग अपने जीवन में भी अवश्य अपनाना चाहिये । अपनी सारी शक्ति एक ओर लगाकर सामर्थ्यानुसार महात्याग अपना ले, तो अरिंहत भगवंत की भक्ति में रंग और रौनक उभर आयेगी ।

'ऐसे त्याग के साथ प्रभुभक्ति करने का भव इस जगत में मात्र और मात्र मानव भव ही है' यह बात अच्छी तरह खयाल में रखें, तो अनेक प्रकार के त्याग और अरिहंत प्रभु की भक्ति के भी अनेक प्रकारों को जीवन में अपनाने की लगन बढ़ती आयेगी ।

६. दिव्य संदेश

महासती सीताजी की यशोगाथा गाते समय, पति द्वारा वन में तिरस्कृत करने पर भी सीताजी ने सेनापति को जो कर्मसिद्धान्त समझाकर आश्वासन दिया वो हमने देखा ।

कौन किसे आश्वासन दे ? दुःखी मानव सुखी को दे या सुखी मानव दुःखी को दे ?

किसको मिलना चाहिये आश्वासन ? सीताजी ही आश्वासन के लायक हैं क्योंकि दुर्दशा उनकी हुई थी ! पर सीताजी तो स्वयं ही जाकर सेनापति को आश्वासन देते है, तो सोचो कि उनकी आत्मा कितनी उच्च होगी !

अब आगे देखों कि सीताजी ने मात्र इतनी ही उच्चता नहीं बतायी, पर उन्होंने अपने पति को सेनापति के हाथों जो संदेश भेजा, उसमें तो विशेष उच्चता दिखायी है !

सीताजी ने पति को दिया दिव्य संदेश :

सेनापति वापस लौटते समय सीताजी को पूछते है : 'महासतीजी ! मैं जा रहा हूँ स्वामी के पास, यदि आपको कुछ संदेश भेजना हो तो कहिये !'

महासती कहती है : 'स्वामी से मात्र इतना कहना कि लोकनिंदा के कारण आपने मेरा त्याग किया, इसकी कोई चिंता नहीं; पर शायद कल लोग आपके जैनधर्म की निंदा करें कि, 'हमारा राजा रामचन्द्र कैसे मूर्ख है कि अठारह वर्ण प्रजा के स्वामी होते हुए भी एकमात्र जैनप्रजा के जैनधर्म की पूँछ पकड़ कर बैठे है !' इस प्रकार लोग जैनधर्म की निंदा के द्वारा आपकी भी निंदा करे, तो मेरी आपसे प्रार्थना है कि महेरबानी करके उन अज्ञान लोगों की बातें सुनकर आप जैनधर्म का त्याग मत करना ।'

पत्नी के त्याग से भी धर्मत्याग क्यों खतरनाक ? :

सीताजी आगे कहते है : 'इसका कारण एक ही है कि आपने मुझे छोड़ा तो भले ही छोड़ दिया, मुझे छोड़ देने मात्र से आपको दूसरी अच्छी राजकन्या

नहीं मिलेगी, ऐसा तो नहीं है; बल्कि मुझसे भी ज्यादा अच्छी मिलेगी और इससे आपके मोक्षमार्ग में अवरोध पैदा होगा; ऐसा भी नहीं है। दूसरे विवाहोपरान्त भी आप संसार त्याग कर चारित्र पालन करके मोक्ष पा सकते हो। इस प्रकार मेरा त्याग करने से आपका मोक्ष रूकेगा नहीं, किन्तु लोक-वचन अनुसार आप यदि जैनधर्म का त्याग कर देंगे, तो जैनधर्म से ज्यादा बेहतर तो नहीं, परंतु उसके समानांतर या उस पंक्ति में खड़े रहने योग्य भी कोई धर्म नहीं मिलेगा। और इसके कारण तो अवश्य ही आपका मोक्ष रूक जायेगा। **इस तरह जैनधर्म के त्याग से चारित्र ना मिलने के कारण आपका मोक्ष अवश्य रूक जायेगा और यह आपका मानवभव भी व्यर्थ हो जायेगा।**'

सीताजी ने यह संदेश भेजा, पर किस परिस्थिति में ? किस संयोग में ? जब पति ने उन्हें अत्यंत करुण हालत में जंगल में तिरस्कृत करके असहाय छोड दिया हैं, तब ऐसा संदेश ? वरना, क्या यह कहने का मन नहीं होगा कि, 'संदेश में जहर भेजने को कहना... संदेश ? मार डाली मुझे, अब संदेश क्या भेजूँ ? ऐसा विश्वासघात ? ऐसा द्रोह ? विवाह के समय क्या यह विश्वास दिया था कि तुम निर्दोष होने के बावजूद भी यदि किसी ने मन में आया वैसा कुछ गलत बोला, तो बिना तुम्हारी भूल के भी तुम्हारी दुर्दशा करूँगा ? मेरा बहिष्कार करके आपका भी कौन-सा भला हो जायेगा ?...' ऐसा ही कुछ संदेशा भेजने का मन ना होता ?

पर नहीं, हृदय में जिनवचन की श्रद्धा से सचोट तत्त्व बसा था कि 'मुझे इस परिस्थिति में पहुँचाने वाले मेरे पति नहीं, पर मेरे अपने कर्म है। यह पक्की बात है कि पूर्वभव में मैंने किसी का बहिष्कार किया होगा, उसी कर्म की वजह से इस भव में मैं बहिष्कृत हुई हूँ।'

'और ज्ञानियों का तो यही कहना है कि इस संसार-वासना की किसी भी प्रवृत्ति का परिणाम दुःखदायी ही है।' यह बात यहाँ सत्य हो रही है। संसार-वासना के कारण मैंने घर-गृहस्थी बसायी, इस प्रवृत्ति के परिणाम फलस्वरूप यह दुःख मिला।'

इस प्रकार जिनवचन की ऐसी बातें नजरों में बसायी हो, तो पति के दोष देखने की बात ही कहाँ रहेगी ? मूल में दोष तो अपनी संसार-वासना का ही दिखेगा।

विकट परिस्थिति में दृष्टि कैसी और कहाँ पर ? :

सीताजी ने जो संदेश भेजा, उसमें मुख्य यह दिखने को मिलता है कि विकट परिस्थिति में भी धर्म समझने वालों की दृष्टि कहाँ जायेगी ? कहों कि सामने वाला व्यक्ति धर्म समझने वाली दृष्टि चूक न जाये; इस पर । **सीताजी ने विषम परिस्थिति में भी पति राम को धर्म और मोक्ष की तरफ ध्यान रखने की याद हृदयायी ।**

(१) आपने मुझे भले ही छोड दी, पर जैनधर्म कभी मत छोड़ना ।

(२) मुझे छोड़ने से आपका मोक्ष कभी नही रूकेगा, पर यदि जैनधर्म छोड़ा, तो आपका मोक्ष अवश्य ही रूक जायेगा ।

यह दोनों संदेश यही सूचना देते है कि **एक धर्मी जीवात्मा को अपना जीवन जीते समय हंमेशा धर्म की आराधना और मोक्ष के लक्ष्य को ध्यान में रखना चाहिये ।**

सीताजी भी इसी लक्ष्य का ध्यान रखते होंगे, तभी तो ऐसी विकट परिस्थिति में भी धर्म को ही पहले रखते है ।

विकट स्थिति में भी धर्म तभी याद आयेगा, जब अनुकूल स्थिति में भी आपका प्रधान और प्रथम लक्ष्य धर्म और मोक्ष ही हो ।

पैसे कमाये; यह अनुकूल स्थिति हुई, पर तब भी याद रहे कि यह पैसों की कमाई पूर्वभव की धर्मसाधना का फल है ।

पूर्वजन्म में दूसरों के धन को छल से ले लिया हो, असत्य-अनीति अपनायी हो, हिंसामय आरंभ-समारंभ किया हो, परिग्रह के ढेर खड़े कर दिये हो इत्यादि का फल यह नहीं कि यहाँ मनचाहे धन और सुख मिले ।

पूर्वभव में धर्म किया होगा, धन आदि का दान दिया होगा, संपत्ति से जिनभक्ति, साधुसेवा और परोपकार किये होंगे, जीवदया का पालन किया होगा, जिनके फल रूप मन चाहा यहाँ मिल जाता है और सब अनुकूल हो जाता है ।

अब यहाँ जब पूर्व के धर्म से सब अनुकूल आ मिला है, तो यह अनुकूलता का फायदा पापाचरण में नहीं, धर्म में ही उठाना चाहिये ।

यह तो हिसाबी बात है कि 'पूर्वधर्म से यहाँ सब अनुकूल, तो यहाँ पर यदि पाप आचरण किये तो आगे प्रतिकूलता ही मिलेगी । तो क्या धर्म के फल में पैसे

आदि सुख-सुविधा को प्राप्त करके उसीसे मेरे ही हाथों पाप आचरण करूँ ? अपने भविष्य को आपत्ति में डाल दूँ ? नहीं, मैं ईतना मूर्ख तो नहीं हूँ । यहाँ जितना हो सके, उतना धर्म करता ही रहूँगा ।' यह भावना पूरे जीवन में जाग्रत एवं जीवंत रखनी चाहिये ।

धर्मात्मा की मोक्ष की ओर दृष्टि :

जैसे अनुकूल स्थिति में धर्म की ओर दृष्टि होगी, तो विकट स्थिति में भी धर्म की ओर ही दृष्टि रहेगी, वैसे ही अनुकूलता में मोक्षदृष्टि होगी, तो विकटता में भी मोक्षदृष्टि बनी रहेगी ।

अच्छी स्थिति में मोक्ष तरफ दृष्टि इस प्रकार रखनी है कि, 'यह सारी अनुकूलताएँ में बहुत गर्व से इतराने की जरूरत नहीं है, क्योंकि ये अनुकूलताएँ शाश्वत रहनेवाली नहीं है । अमर और शाश्वत है एकमात्र मोक्ष ही ! इसलिए वास्तव में देखने जाये तो सच्ची अनुकूल स्थिति तो मोक्ष में ही है । इसी कारण से पैसा आदि मिलने पर गर्व से ज्यादा उछलने-कूदने की जरूरत नहीं, संतुष्ट होने की भी जरूरत नहीं ।'

'मेरी वास्तविक अनुकूलता मोक्ष ही हैं' यह विचार हृदय में स्थिर कर दो ।

स्थूलभद्रजी को राजा नंद की ओर से मंत्रीपद की अँगूठी भेट दी गई, तभी स्थूलभद्र को महसूस हुआ कि यह मंत्रीपद स्वीकार करने पर, मैं अपना पूरा समय कोशा वेश्या के साथ नहीं बीता पाऊगाँ, इसलिए मुझे यह मंत्रीपद का अस्वीकार करना होगा । वैसे ही संसारवास में पडे रहने से तो चारित्र के बिना मैं मोक्ष के अनंत सुखो से वंचित रह जाऊगाँ । यह मानव भव तो मोक्ष के अनंत सुख पाने के लिए मिला है, तो संसार के क्षणिक नाशवंत सुख के पीछे क्यों व्यर्थ करना ?

देखों ! नंद राजा के द्वारा इतने बड़े राज्य का पद सामने से मिल रहा है, यह दुनियाँ की नजरों से देखों तो कितनी बड़ी अनुकूल स्थिति ! फिर भी नजरों के सामने मोक्ष आ खड़ा, तो बिना विलंब तुरंत ही साधुवेश पहन कर चारित्र ग्रहण कर लिया ! कितना जबरदस्त विवेक ! कितना बढ़िया आत्म-पराक्रम !

अनुकूलता में मोक्षदृष्टि जागृत है, इसीलिए श्रावक परलोक-प्रधान जीवन जीते हैं । अनुकूलता में भी ऐसे विचार, वाणी और व्यवहार न करें, जो यहाँ तो सुख में मन को वाह-वाही महसूस कराये, पर परलोक को बिगाड़ दे । परलोक बिगड़ा

यानि परलोक के हलके भव बाँधे । हलके भव में तो पाप ही करने को मिलेंगे, और इससे मोक्ष तो दूर होगा ही, उल्टे भव के चक्कर भी बढ़ जायेंगे ।

भव पार करने के, भव की परंपरा को घटाने के इस जन्म में क्या भव के फेरे बढाने के धंधे करने है ?

अनुकूलता में मोक्षदृष्टि जीवंत हो, तो उसके फल :

(१) वास्तविक अनुकूलताएँ मोक्ष में ही दिखेगी ।

(२) यह दिखने से वर्तमान पौद्गलिक नाशवंत अनुकूलताएँ में गर्व से इतराना नहीं होगा कि, 'मैं कितना श्रीमंत !', या 'मैं कितना ज्ञानी !'

(३) और संतोष मानकर बैठे न रहे कि, 'चलों ! जो कुछ चाहिये था सब मिल गया । अब आराम से वैभव-विलास में जीवन व्यतीत करें ।'

(४) दूसरों के सुख-वैभव को देखकर ईर्ष्या नहीं करेंगे । क्योंकि समझेंगे कि यह संसारी-सुख तो क्षणिक मात्र हैं, वास्तविक सम्पन्नता और शाश्वत सुख तो मोक्ष में ही है ! यह बेचारा देखते ही रह जायेगा और सारे सुख गायब हो जायेंगे, उस वक्त ये बेचारे की हालत रोने के अलावा क्या होगी ? अंत में तो रूलाने वाले ये दूसरों के वैभव-सुख से क्या ईष्या करनी ?

इस प्रकार मोक्षदृष्टि अभिमान से, गर्व से इतराने से, अति खुश होने से, झूठा संतोष मान के धर्म से भ्रष्ट होने से और दूसरों की ईर्ष्या करने से रोकती है ।

(५) मोक्षदृष्टि संसार की अनुकूलताओं के गर्व से बचाने के साथ दूसरों के तिरस्कार करने से भी बचाती है, रोकती है । मनुष्य किसी का तिरस्कार क्यों करता है ? स्वयं को अपने वैभव सुखादि पर अभिमान है, घमंड़ है, इसीलिए दूसरों को तुच्छ मानता है, बेकार समझता है और उनका तिरस्कार करता है । यदि उसे इस अनुकूलताओं का घमंड़ ना हो, अहंत्व ना हो, तो कोई भी सेठ नौकर को तुच्छ क्यों गिनेगा ? बात-बात पर उसका अपमान-तिरस्कार क्यों करेगा ? बाप बेटे का तिरस्कार करेगा ? शिक्षक विद्यार्थी का तिरस्कार करेगा ? गुरु शिष्य का, विद्वान या अनेक शिष्यों वाला शिष्य गुरु का तिरस्कार करेगा ? करता है, क्योंकि मन में

स्वयं को मिले सुख-वैभव-विद्या-ज्ञानादि का अभिमान है ! यदि मोक्ष को ही सर्वश्रेष्ठ सुख मानता, उसे ही सर्वश्रेष्ठ जानता, तो इस वर्तमान में प्राप्त हुए संसारिक सुख को तुच्छ मानता । फिर तो अभिमान भी क्यों ? और दूसरों का तिरस्कार भी क्यों ?

जीवन में मोक्षदृष्टि को, मोक्ष को ही सच्ची अनुकूलता मानने की बात ही कुछ ओर बनती है ।

संसारी अनुकूलताओं में मोक्षदृष्टि जीवंत रख पाये, इसके लिए तो यह ध्यान में रखे कि **धर्म का उत्साह बने रखने के लिए एक ही भावना : 'अंत में तो मुझे मोक्ष पाकर ही रहना है, तो यह संसारी अनुकूलताओं का उपयोग मोक्ष के निकट जाने के लिए करूँ ।'**

मेरे ही साधनों का ऐसा उपयोग तो मैं क्यों करूँ कि जिससे मेरा ही मोक्ष मुझ से दूर चला जाये ?

यह कार्य तो मात्र कम अक्कलवाला, बुद्धिहीन मूढ मानव ही करेगा कि अपनी अनुकूलताओं का दुरुपयोग करके स्वयं का ही मोक्ष दूर कर दें ! जब जन्म हुआ, तब उसके कर्मों के स्टोक और पापानुबंधो के स्टोक के कारण मोक्ष जितना दूर था, उससे ज्यादा, जीवन जीते समय पुण्य के कारण मिली अनुकूलताओं का गलत उपयोग करके मोक्ष को दूर कर देता है । ऐसा करने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं, बुद्धि का सदुपयोग नहीं, किन्तु बुद्धि की नीलामी है ।

मोक्षदृष्टि वालें का अनुकूलताओं का सदुपयोग यह है कि अनुकूलता के मूल कारण देवाधिदेव पर और उनके वचन पर अथाग राग तथा साधु महात्मा पर भी राग बढता चलें । और इस राग के फल स्वरूप देव-गुरु की खूब सेवाभक्ति करें । अपने आलम्बन से दूसरें भी देव-गुरुभक्ति और जिनवचन की आराधना में उत्साहित बनें; इस प्रकार से वे अपनी अनुकूलताओं का सदुपयोग करते हैं । मोक्षदृष्टि जागृत हो, इसका यह प्रभाव है । इसलिए देखो....

राजा संप्रति द्वारा अपनी संपत्ति का सदुपयोग :

राजा संप्रति ने अपनी राज्यसत्ता की अनुकूलता का सदुपयोग किया : सवा लाख जिनमंदिर बनवाये ! कितनी ही धर्मशालाएँ बनायी, कितनी ही दानशालाएँ खुलवायी ! दूर-दूर के दक्षिण देशों में लोगों को धर्म से और साधु भगवंतों से

परिचित करवाने के लिए अत्यधिक धन खर्च किया, ताकि वहाँ साधु विहार कर सके और लोगों को धर्म समझा सके, सिखा सके ! ग्रीस और ईरान तक तत्त्वज्ञान फैल सके; ऐसे सुकृत किये ! यह सब किसलिए ? क्योंकि उन्हें जिन-जैनसाधु और जिनवचन-जैनधर्म पर इतना अधिक राग था कि वो सारे विश्व को जैनधर्म के प्रति आकर्षित करना चाहते थे और उसके माध्यम से वो अपना मोक्ष निकट के समय में ही निश्चित कर देना चाहते थे ।

मोक्षदृष्टि आपत्ति में भी समाधि देती है :

जैसे मोक्षदृष्टि संपत्ति-वैभव के समय यह कार्य करती है, वैसे ही आपत्ति के समय, विषमताओं के समय में भी समाधि देने का कार्य करती है ।

मोक्षदृष्टि यह विचार करवाती है कि, 'मेरे जीवन में आपत्ति आयी, संसारी अनुकूलताएँ चली गयी, पैसा गया, परिवार गया; यह कोई बड़ा नुकसान नहीं है । बड़े-बड़े चक्रवर्तीयों के छ खण्ड के राज्य की ऋद्धि भी चली गयी, उनका चक्रवर्ती पद भी चला गया और लाखों-करोंड़ो का परिवार भी गया, तो मेरा कौन-सा बड़ा नुकसान हो गया ? मुझे तो मेरा मोक्ष दूर ना हो जाए, खो ना जाए, यहि देखना है, वैसा ही करना है ।'

विपरीत स्थितियों में ऐसा विचार रखना ही पड़ेगा, जिससे चित्त को व्याकुलता-अधीरता, अफसोस महसूस ना हो । जो होने वाला है, वो होगे ही रहेगा, वहाँ व्याकुलता-अफसोस करने से न तो आपत्ति हल हो जायेगी, न कम होगी, उसमें फ़र्क तो कुछ भी पड़नेवाला नहीं ही है । आपत्ति-संपत्ति यह सब तो कर्मों का खेल है अर्थात् यह सब तो पूर्वनिर्धारित हो चुका है । पूर्व आयोजित है, तो इसमें अब क्या बदलाव आ सकता है ? रोन-धोने से नियति के नियम नहीं बदलने वाले ।'

सीताजी यह बात अच्छी तरह समझते थे, इसीलिए जंगल में तिरस्कृत करके छोड़े जाने पर भी वे ना ही विचलित हुए, ना ही हाय-तौबा मचायी । बल्कि सीताजी ने मन में कर्म के सामने जो धर्म का बल तथा मोक्ष का लक्ष्य धारण किया था, उसके अनुसार सीताजी रामचन्द्रजी को यह संदेश भेजते है कि, '**लोकवचन से जैनधर्म मत छोड़ना, क्योंकि जैनधर्म छोड़ा तो आपका मोक्ष निश्चित रूक जायेगा, और यह अनमोल मानव भव निष्फल हो जायेगा ।**'

सारांश यही है कि संसारिक सुखों के समय भी धर्मदृष्टि और मोक्षदृष्टि को जीवंत रखें, ऐसा ही आपत्ति और विपरीत परिस्थितियों में भी ।

(१) धर्मदृष्टि यह है कि, यह संसारिक सुख पूर्व के धर्मसेवन के फलस्वरूप मिले हैं, इसलिए धर्मसेवन को हंमेशा मुख्य रखें ।

(२) मोक्षदृष्टि यह है कि, जीव की वास्तविक सुख-अनुकूलता तो मोक्ष ही है, इसलिए आज जो संसारिक सुख मिले है, उनका उपयोग मोक्ष के करीब जाने के लिए ही करना; उपयोग करते वक्त इस बात की जागृति रखें कि मेरा मोक्ष निकट आ रहा है या दूर जा रहा हैं ?

यदि संसारिक सुखों के समय यह दो दृष्टि जागृत रहें, तो फिर कष्ट के समय में, आपत्ति में भी यह दृष्टि जागृत रहेंगी; वह तो स्वाभाविक है । इसीलिए सीताजी ने जंगल से भी पति को जो संदेशा भेजा, उसमें धर्म और मोक्ष की ही बात थी ।

राम पर संदेश की असर :

अब देखों, सेनापति जाकर रामचन्द्र को मिलते है तब राम उन्हें पूछते है : 'सीता को जंगल में छोड़ आये ?'

सेनापति बोलें : 'जी हाँ ! जैसे ही मैंने उन्हें आपका आदेश कहा, तो बिना किसी आनाकानी के रथ से उतर गये ! मुझे रोता देखकर बोलें : 'रो क्युँ रहे हो ? तेरा कोई कसूर है ही नहीं । तू तो स्वामी का सेवक है और मैं भी स्वामी की आज्ञांकित हूँ, इसलिए तेरा और मेरा स्वामी के आदेश का पालन करना; यही कर्तव्य है ।' स्वामी को कहना कि, खेद ना करें, क्योंकि इसमें आपकी कोई भी गलती नहीं, उसी तरह लोगों का भी कोई दोष नहीं । यदि दोष किसीका है तो एकमात्र मेरे ही पूर्वकर्मों का है । यह जो कुछ भी हुआ है, सब कर्मप्रेरित है, तो आपको क्यों दुःखी होना ?'

राम यह सुनकर स्तब्ध हो जाते है !

सेनापति आगे कहते है : 'राजन् ! वापस लौटते समय मैंने सीताजी से पूछा कि, 'आप स्वामी को कुछ संदेश देना चाहते हो ?'

तब सीताजी ने आपके लिए संदेश भेजा, उन्होंने कहा : 'स्वामी को बस इतना कहना कि, लोगों की निंदा सुनकर आपने मेरा त्याग कर दिया, तो भले ही किया,

मेरे त्याग से आपके मोक्षमार्ग में कोई रुकावट होने वाली नहीं है । परंतु कल जाकर यदि लोगों जैनधर्म की भी निंदा करने लगे, तो आप जैनधर्म मत छोड़ना, क्योंकि जैनधर्म छोड़ने पर तो निश्चित है कि, आपका मोक्ष हो ही नहीं सकेगा ।'

भयंकर विकट परिस्थिति में भी सीताजी के ऐसे उदार बोल सुनकर राम के पैरों के नीचे से जमीन फिसलने लगी ! 'ऐसी उत्तम महासती का मैंने द्रोह किया ।' इस विचार से अत्यंत आघात के मारे रामचन्द्रजी मूर्च्छित हो गये । राम बेहोश क्यों हो गये ? उनके हृदय को जबरदस्त ठोकर लगी, इसीलिए... ! उन्होंने देखा कि,

राम के मन में सीताजी की विशेषताएँ :

'अहो ! मुझ पर सीताजी का इतना उच्च सद्भाव ! उनके मन में मेरे आत्महित की एकमात्र फिकर ! अजब-गजब का क्षमाशील स्वभाव, उदार नीति-रीति और कई सारे सद्गुण ! और उनके सामने मैं कैसा ? मूढ, नादान लोगों की झूठी बातों में आकार ऐसी महासती का द्रोह करने वाला !' यह बात नझरों के सामने आने से राम के हृदय को इतना भारी आघात लगा कि वे वहीं के वहीं बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े ।

भारी आघात तो लगेगा ही ना ? क्योंकि सीताजी थे ही इतने उच्च और क्षमाशील ! कितना बेहतरीन स्वभाव ! कैसा उत्तम व्यवहार ! वो भी इतनी कठिन परिस्थिति में ! इसके सामने रामचन्द्रजी आराम से महलों में बैठे थे; अज्ञानी और मूढ लोगों की दृष्टि में 'एक अच्छे राजा' की आदर्श छवि बनी रहें, इसी स्वार्थ में फँसकर निर्दोष सीताजी के प्रति इतना क्रूर व्यवहार ! अब सीताजी के उत्तम बोल सुनकर रामचन्द्र को अपने आपके और सीताजी के व्यवहार के फर्क का एहसास हुआ, तो अब जबरदस्त आघात क्यों ना लगे ? बस, इसी आघात के कारण वे मूर्च्छित हो गये ।

राम एक महान पुरुष है । महान पुरुष से भी गलती हो सकती है, पर इनकी महानता यही है कि जैसे ही भूल का एहसास हुआ, कि तुरंत ही बिगड़े हुए को बनाने में देर नहीं लगाते । **हृदय वास्तव में अधम हो, तो भूल जताने के बाद भी गांठ नहीं खुलती और ना ही बिगड़े को बनाने का मन होगा ।** अधमता के कारण अभिमान से भूल को सच की ही तरह मजबूती से पकड़ेगा ।

किन्तु रामचन्द्रजी वास्तव में बहुत महान है, इसलिए तो अपनी भूल को 'भूल' समझकर-स्वीकार कर हृदय में इतना भारी धक्का पहुँचा कि वे होश गवाँ देते है ! बाद में सेवकों ठंडे उपचार करके उन्हें होश में लाते है । तुरंत ही राम सेनापति को कहते है :

राम सीता को वापस लाने का विचार करते है :

'अरे ! यह सब क्या कर दिया मैंने ? मूढ लोगों को खुश करने के खातिर महापवित्र, निर्दोष और इतने उत्तम व्यवहार करने वाले, उच्च गुणों वाले सीताजी को जंगल में भेज दिया ? धिक्कार है मुझे ! सेनापति ! ऊठों ! चलों, जल्दी रथ तैयार करों, हमें जंगल जाकर सीता को वापस लाना है, भले ही मूढ लोग जो चाहे वो बोले ।'

पहले प्रजा की शाबाशी लेने के लिए कि, 'रामचन्द्रजी एक अच्छे राजा है कि पराये घर में रहकर आयी प्यारी पत्नी को भी घर से बाहर निकाल दी ।' इसी शाबाशी की अपेक्षा में सीताजी को छोड़ दिया था । उसी राम की महानता देखों, अब सारी प्रजा जो चाहें बोले, पर निर्दोष सीताजी को वापस लाने को सज्ज बन जाते है । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि...

लोकापवाद क्यों गौण ? :

प्रश्न : तो क्या पहले उन्होंने लोकापवाद को महत्त्व दिया था, उसे वो अब गलत समझ रहें हैं ?

उत्तर : हा ! इसका भी कारण है; पहले वो स्वयं ईश्वाकु वंश के एक अच्छे उत्तराधिकारी की ज्योति को अखंडित रखने की लालच में लोगों की मूढता पर उनका ध्यान ही नहीं खिंचा था, पर अब लोगों की मूढता-अज्ञानता को समझ गये थे कि, 'महासती पर आरोप लगाना; ये बड़ी मूर्खता है, पागलपन है । ऐसे मूढ और पागल लोगों की जमात लाखों की संख्या में हो, तो भी क्या हुआ ? उनके बोलने पर भरौसा कर के कोई भी निर्णय लेना उचित नहीं है ।' यह बात समझ में आ जाने के बाद रामचन्द्रजी लोकापवाद यानि लोकनिंदा को महत्त्व देना बंद कर दे और महासती पर किये भयंकर अन्याय को न्याय में बदल कर सुधार डालें, तो उसमें गलत तो कुछ भी नहीं, बल्कि उनकी महानता है ।

निर्दोष पर किया अन्याय सुधार लेना; यह भी महानता है ।

इससे हमें यह बात सीखनी चाहिये कि आज जब अज्ञात और मूढ लोग धर्मविरुद्ध, साधु भगंवतों के विरुद्ध या शास्त्रों के कानून विरुद्ध बोलते है, तब उन्हें ज्यादा महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं है कि, 'इतने लोग ऐसी बात कर रहें हैं, तो उस विषय में सोचना ही चाहिये...' क्योंकि,

मूढ लोगों को महत्त्व देने में तो धर्म, साधु और शास्त्र को अन्याय कर बेठेंगे ! इसलिए ऐसे लोगों को महत्त्व देकर अपनी धर्माराधना, साधु भगंवत के प्रति भक्ति-बहुमान और शास्त्रों के नियमों पर बनी श्रद्धा को छोड़ देना उचित नहीं है । इन मूढ-अज्ञानी लोगों के वचनों की कीमत कितनी ?

रामचन्द्रजी ने जैसे ही सेनापति को कहा कि, 'चलो ! जल्दी चलो ! सीता को वापस लेकर आते है ।'

तब सेनापति बोले : 'प्रभु ! महासतीजी को यहाँ से ५०० गाऊ दूर छोड़कर यहाँ वापस आने में मुझे काफी समय लगा । इतने समय में तो वे कहाँ के कहाँ चले गये होंगे ! अब तो उनका अता-पता भी लगना मुश्किल है ।'

राम बोले : 'तु चिंता मत कर, वे पैदल चलते-चलते कितनी दूर तक जा सकते है ? अपने पास तो रथ है, पवनवेग से दौड़ सके ऐसे तेज घोड़े है, इससे हम पूरे जंगल में तुरंत ही घुमकर उनकी तलाश कर ही लेंगे ।'

राम को कितनी आतुरता है सीता को तुरंत ही वापस लाने की ! कारण यही है की उन्होंने स्वयं निर्दोष सीता पर अन्याय करके बिना अपराध कठोर दंड देने की महाभूल कर दी है, तो अब चाहे कितने भी कष्ट क्यों ना झेलने पड़ें, पर अपनी भूल को सुधारनी ही है ।

सेनापति ने रथ तैयार किया और तुरंत ही रामचन्द्रजी जंगल की ओर निकल पड़े । सेनापति जहाँ सीता को छोड़कर आया था, उस जगह और आसपास भी बहुत तलाश की, पर सीताजी का कही पता नहीं चल पाया । बार-बार घूमे-फिरे, पर सब बेकार ! सीताजी मिले ही नहीं ! क्योंकि वे वहाँ थे ही नहीं !

जो जहाँ नहीं है, वहाँ यदि मात्र दिनों तक नहीं, बल्कि पूरे जन्म तक तलाश करे, तो भी वो वहाँ मिलने वाला नहीं ।

साँप के मुँह में अमृत होता है ? नहीं, तो यदि साँप के मुँह में अमृत की खोज में पूरी जिंदगी खर्च कर दो, तो भी वहाँ से अमृत कैसे मिलेगा ? वैसी ही,

(१) संसारिक पदार्थों में वास्तविक सुख है ही नहीं, फिर भी जनम-जनम तक उसमें सुख पाने का प्रयास करों, तो भी कैसे मिलेगा ?

(२) मित्रों के हृदय में हमारे लिए सच्चे प्रेम जैसा कुछ नहीं हो, तब उनसे प्रेम पाने के लिए अपना सर्वस्व भी त्याग कर दो, तो भी कैसे मिलेगा ? प्रेम तो दूर, उपर से जूते के मार मिलेंगे !

(३) कुशील पत्नी के हृदय में सुशीलता होती ही नहीं है, उसे चाहे कितने भी हीरे-माणेक-मोती के गहनों से सजा दो, उसके प्रति अत्यधिक स्नेह दिखा दो, तो भी उसमें सुशीलता कैसे मिलेगी ?

यहाँ सीताजी तो जंगल में थे ही नहीं, फिर राम पूरे जंगल में चाहे कितना भी घूमे फिरे, पर सीताजी मिलेगे कैसे ? बहुत तलाशी चलाने पर भी सीताजी ना मिले, तो वो निराश हो गये । उनके मन में अशुभ कल्पना होने लगी कि, 'इतने भयानक जंगल में, इतने शिकारी और जंगली पशुओं के बीच सीताजी का जीवित रहना; शायद मुश्किल ही है, कहीं वो उनका भोग तो नहीं बन गये ? अरे ! कितनी बड़ी मूर्खता कर दी मैंने ? कितनी क्रूरता कर दी कि ऐसे घनें भयानक जंगल में मैंने उन्हें छोड़ दिया वो भी अकेले असहाय... ।' उन्हें पश्चात्ताप का कोई पार ही नहीं था ।

सीता के ना मिलने पर राम का कल्पांत :

राम रोने लगे, बहुत रोये, कल्पांत करने लगे : 'हे भगवान ! यह मुझे कैसी दुर्बुद्धि हुई कि ऐसी महासती, महापवित्र और महागुणवान सीता के साथ मैंने इतना बड़ा विश्वासघात कर दिया ? लक्ष्मण मुझसे कहता रहा कि, 'लोग भले ही जो चाहे वो बोले, पर आप तो सीताजी को महासती मानते ही हो, तो ऐसा विश्वासघात मत करो ।' पर... फिर भी मैं यह विश्वासघात कर बैठा । लाख-लाख धिक्कार है मुझे कि मैंने इतनी उच्च आत्मा को शिकारी पशुओं के मुँह में भेज दी ।'

'ओ मेरी सीता ! मुझे माफ करना, मैं पापी हूँ, अधम हूँ, नराधम हूँ... !

मेरे जैसे नालायक, नराधम को इस जन्म में तो पति बना लिया, पर अगले किसी जन्म में कभी ऐसे पापी को पति बनाने की भूल मत करना ! ओ मेरी गुणमूर्ति सीता ! तू तो पवित्र-पतिभक्ता-गुणमय जीवन जीकर इस उच्च मानव भव को उज्जवल कर गयी, पर मैंने भयंकर पत्नीद्रोह करके इस मानव भव को अंधेरों में डुबा डाला !'

सीताजी कहाँ गये ? :

राम कल्पांत करते-करते घर लौटे । यहाँ सवाल यह रह जाता है कि आखिर सीताजी गये कहाँ ? क्या हुआ उनके साथ ? क्या वो शिकारी पशुओं का भोजन बन गये ? या फिर कहीं ओर चले गये ? क्या कोई देवता तो उन्हें उठाकर नहीं ले गया ?

जवाब यही है कि पशुओं का भोग (भक्षण) तो नहीं बने थे, पर नजदीक के एक राज्य के राजा वज्रजंघ वहाँ घूमने निकले थे, तब उन्होंने आश्रय के लिए यहाँ-वहाँ घूमते हुए सीताजी को देखा, तो पूछ लिया :

'ये आपकी सूरत और वेश-भूषा से तो आप प्रतिष्ठित खानदान के लग रहे हो, तो यहाँ अकेले कैसे ?'

क्या यहाँ सीताजी रामचन्द्रजी या निंदक लोगों के प्रति अपनी भडास, आक्रोश निकालेंगे ? नहीं ! यहाँ सीताजी कहते है कि, 'मेरा दुर्भाग्य मुझे यहाँ ले आया है... ज्यादा कुछ मत पूछना ।'

भाग्य रूठ जाये, तब घर और परिवारजनों का वियोग तो सहज बात है ।

बलवान भाग्य के सामने मानव से हो भी क्या सकता है ?

राजा समझ गये कि, 'यह स्त्री चाहे जिस भी कारण इस परिस्थिति में आयी हो, पर कुलवान है, इसलिए कह नहीं पा रही, तो कोई बात नहीं । हमें कारण जानकर क्या करना है ? हमें तो इस दुःखियारी की सहायता करनी है' यह विचार करके वह सीताजी से बोले :

'चिंता मत करों ! आप मेरी धर्म-बहन हो, मुझे अपना धर्म-भाई ही समझो । चलों मेरे साथ ! मैं राजा हूँ, मेरे महल में मेरी बहन बनकर खुशी से रहना । तुम्हारी भाभीयाँ भी तुम्हारी जैसी उत्तम ननंद पाकर खुश हो जायेंगी, अच्छा आदर-सत्कार करेंगी ।'

७. सक्रिय धर्ममता

इस प्रकार राजा वज्रजंघ सीताजी को महान आश्वासन देकर रथ में बिठाकर अपने राजमहल में ले गये थे, तो सीताजी जंगल में कहाँ से मिले ? और यह खबर भी राम को कौन पहुँचाये ?

देखों, जब यहाँ इसी जन्म में जंगल में खोये हुए स्नेही-स्वजन की खबर हमें नहीं मिल पाते, तो

- परलोक में संसार रूपी जंगल में खोये स्नेही-स्वजन की खबर कौन देगा ?
- वो वहाँ किस परिस्थिति में होगे ? उसकी भी खबर नहीं और हम उन्हें दुःख से बचा भी नहीं सकते । उसी प्रकार,
- यदि वो सुखी भी हो, तो भी हमें उपयोगी नहीं बन सकते ।

तो इस जनम में स्नेही-स्वजनों पर राग-ममता करने से क्या फायदा ?

सीताजी तो कारणवश जंगल में गये और खो गये, पर यहाँ संसार में तो बिना कारण ही सगे-स्नेहीजन निश्चिंत रूप से खोने ही वाले है और वो संसार के जंगल में कुछ इस प्रकार खो जाने वाले है कि उनकी खबर भी नहीं मिलेगे । अरे ! उनका तो पता भी नहीं मिलेगा, तो फिर ऐसे,

स्नेही-स्वजन पर गाढ ममता कर-कर के देव-गुरु-संघ-साधर्मिक पर की ममता और स्नेह को खो देना... यह कितनी बड़ी मूर्खता और मूढता है ?

यहाँ देव-गुरु-संघ-साधर्मिक की रखी हुई अतूट ममता और श्रद्धा परभव में भी देव-गुरु-संघ-साधर्मिक की निश्चित ही प्राप्ति करवाती है ।

अब जरा सोचों कि यह मिलना निश्चित हुआ अर्थात् क्या निश्चित हुआ ? मनुष्य

भव निश्चित हुआ ! यदि देवभव मिला, तो भी वहाँ देवाधिदेव-साधु-संघ आदि की भक्ति करने की सुलभता होगी और उसके पश्चात् पुनः मानव अवतार मिलेगा । उस मानव-अवतार में फिर देव-गुरु-संघ साधर्मिक की प्राप्ति भी सुलभ होगी ।

इसलिए इस संसार रूपी जंगल में स्नेही-स्वजन को खोने की और उनकी खबर या उनका पता तक ना मिल पाने का खयाल रखकर उन पर से ममता कम करके देवाधिदेव, साधु महात्मा, संघ और साधर्मिक के प्रति ममता जगानी चाहिये ।

देव-गुरु-संघ पर ममता जगाने के लिए क्या-क्या करना चाहिये ? :

यह ममता वास्तव में किस प्रकार जगायी जा सकती है ?

जैसे हमारे प्रिय स्वजनों के प्रति हमारी ममता उमड़ती है, उसी प्रकार देव-गुरु-संघ और साधर्मिकों पर भी बरसनी चाहिये । जैसे, पत्नी-पुत्र-पुत्री आदि और साले-बहनोई-जमाई-भाणेज आदि रिश्तेदार पर समय और संपत्ति लुटाना कम करके देवाधिदेव, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका पर पूरा समय और संपत्ति लूटा दे । उनकी सेवा में जुड़ जाये, तो उन पर वास्तव में ममता जागृत होगी । इसके बिना तो ममता सिर्फ कहने के लिए शब्दों-रूपी ममता होगी, सच्ची ममता नहीं ।

तो अब बताओं : परभव में देव-गुरु-संघ-साधर्मिक की प्राप्ति सुलभ करनी है ? उन पर सहज ममता-स्नेह उत्पन्न हो; ऐसी सुलभता करनी है ?

तो यहाँ प्राप्त देव-गुरु-संघ-साधर्मिक पर 'सक्रिय ममता' जगाओं । 'सक्रिय ममता' अर्थात् उनकी खातिर समय का भोग दों, संपत्ति का भोग दों, परिश्रम करके कायिक भोग दों । इस ममता की खातिर समय, संपत्ति का अच्छा भोग और अच्छी तरह श्रम करने की तमन्ना रहे, तो ऐसी ममता ही सक्रिय ममता है ।

सक्रिय ममता के उदाहरण :

- माता को पुत्र पर जो ममता होती है, वो कैसी ममता होती है ? पुत्र के लिए समय और श्रम करने में कभी कोई कमी नहीं और यहाँ तक कि स्वयं की हर एक चीज उसके पुत्र के काम में लगे ऐसी तमन्ना रहती है । सौतेले पुत्र पर ऐसी ममता नहीं है, इसीलिए तो वहाँ किसी भी प्रकार का भोग देने की तमन्ना ही नहीं होती ।

- पत्नी के मन में स्नेह है कि, 'यह मेरा पति है' और पति पर ममता है, इसीलिए पति की खातिर समय-श्रम-संपत्ति का कितने सारे भोग देने की तमन्ना रहती है !

- एक वफादार नौकर को लायक सेठ पर कितनी सक्रिय ममता रहती है !

बस, ऐसी ही तमन्ना, देव-गुरु-संघ-साधर्मिक की खातिर भोग देने की भी रहें : 'किस प्रकार मैं इनके लिए समय निकालूँ, श्रम करूँ, और मेरी चीज-वस्तुएँ, संपत्ति इनके उपयोग में लगा दूँ।' ऐसी लगन-तत्परता-तमन्ना रहे। यदि भोग देने की तमन्ना ही नहीं, तो ममता भी कैसी ? निष्क्रिय !

महाराजा श्रेणिक को महावीर प्रभु जब तक नहीं मिले थे, जब तक प्रभु को पहचाने नहीं थे, तब तक उन्हें प्रभु के प्रति ममता नहीं थी। परन्तु प्रभु मिले, उन्हें पहचाने, उसके बाद तो ऐसी ममता उभरी कि,

'वाह ! ऐसे तारणहार प्रभु मुझे मिले ? जगत में सचमुच किसी में मेरेपन का एहसास कर सकूँ तो सिर्फ यह एक देवाधिदेव ही हैं।' यह ममता ऐसी जगी कि रोज त्रिकाल प्रभुभक्ति करने की तीव्र तमन्ना रहती, समय निकालकर और संपत्ति खर्च कर के ! प्रभु की सुख-शाता की खबर भी कोई ले आता, तो उसे अच्छा ईनाम देते।

प्रभु पर उछलता राग, प्रभु पर उमडती हार्दिक ममता क्या-क्या नहीं करवाती ? संपत्ति का भोग क्यों नहीं करवाती ? वहाँ एक क्षण के लिए भी ऐसा लगे कि इतनी-सी खबर देनेवाले पर पैसा क्यों लुटाना ? तो उसका अर्थ यही है कि, प्रभु से ज्यादा ममता संपत्ति पर है। मन कहेगा कि प्रभु की खातिर यूँ पैसे नहीं लुटाने चाहिये, पैसे लुटाने की जरूरत ही क्या है ?

'प्रभु से ज्यादा मोह पैसों पर होगा, तो वहाँ पैसों की खातिर प्रभु का उपयोग करेंगे, पर प्रभु की खातिर पैसों का उपयोग नहीं !'

अगर प्रभु की भक्ति में शायद पैसें खर्च भी करेगा, तो वहाँ भी मन में कहीं न कहीं यह बात छुपी होगी कि, 'प्रभु की कृपा से मुझे ज्यादा धन-संपत्ति प्राप्त हो' कहेगा कि, 'शंखेश्वर दादा ! १५० रूपये खर्च करके आँगी करवायी है, तो दादा ! तू इस पर दो ओर शून्य जोड़कर मुझे देना !' अर्थात् कितना माँगा

वापस-रिर्टन में ? १५,००० ! है ना होंशियार बनिया ? प्रभु से ज्यादा मोह पैसों पर हैं, इसलिए तो १५० खर्च करके भी वापसी की उम्मीद करता है, वो भी चौदह हजार, साढे आठ सौ ओर मिला कर वापस चाहता है !

उसने प्रभु की खातिर पैसों का उपयोग किया ? या पैसों की खातिर प्रभु का उपयोग किया ? वास्तविकता तो यही है कि पैसों की खातिर प्रभु का उपयोग किया । इससे उसे प्रभु से भी अधिक ममता पैसों पर है; यही बात साबित हो रही है ।

श्रेणिक ने प्रभु की ममता में क्या-क्या किया ? :

श्रेणिक राजा को प्रभु पर अत्यधिक ममता थी, इसलिए उनके पुत्र मेघकुमार-नंदीषेण-अभयकुमार आदि पुत्रों और काली-महाकाली वगैरह रानीयाँ जब प्रभु के पास चारित्र लेकर उनके शिष्य बनने की आज्ञा माँगते है, तब श्रेणिक राजा तुरन्त ही संमति देकर उन्हें प्रभु को सौंप देते है ।

श्रेणिक ऐसे ही भगवान नहीं बनने वाले ! प्रभु के प्रति उनकी ममता थी कि, ' मुझे मेरे पुत्र भगवान से ज्यादा प्यारे नहीं है, पर पुत्र और पत्नी से कई गुणा ज्यादा मुझे मेरे प्रभु प्यारे है, इसलिए उनकी सेवा में मेरे पुत्र जाते है, तो भली ही जाये ।'

'नहीं, मेरे पुत्र मेरे ही सेवा में रहने चाहिये, भगवान की सेवा में नहीं ! भगवान को तो बहुत सारे शिष्य है, ओर भी मिलते ही है,' यदि यह गणित रखकर सोचते हो, तो इसमें भगवान पर ममता कहाँ ?

कोई यदि मगरूरी रखे कि, 'मुझे मेरे पिताजी पर बहुत ममता है ।' पर अपने पुत्र को अपनी ही सेवा में रोक रखे और पिता की सेवा करने से रोके, तो उसकी पिता के प्रति ममता कैसी ? मात्र शब्दाडंबर ही हुआ ना ? ऐसे लोगों को मात्र स्वयं पर ममत्व है, पिता पर नहीं । श्रेणिक राजा परिवार की तरह काफी संपत्ति भी प्रभु की भक्ति में लगाते थे ।

बात सिर्फ इतनी ही है कि देव-गुरु-संघ-साधर्मिक पर ममता सक्रिय रहनी चाहिये । समय-श्रम-संपत्ति; तीनों का भोग देने की तमन्ना रहनी चाहिये । मन सदा उत्साहित रहे कि 'प्रभु की सेवा के लिए कैसे ज्यादा से ज्यादा समय निकालूँ ? परिश्रम और संपत्ति को लगाऊँ ?'

कुमारपाल राजा की गुरु पर सक्रिय ममता :

कुमारपाल प्रति वर्ष एक करोड का धन तो मात्र साधर्मिकों के उद्धार में व्यय करते थे, क्योंकि वास्तव में उन्हें साधर्मिकों पर अत्यधिक ममता थी। गुरु कलिकालसर्वज्ञश्री हेमचन्द्रसूरिजी महाराज पर भी बहुत ममता थी, तभी तो उनके रचे हुए शास्त्रों को लिखने के लिए प्रतिदिन ७०० लिखनेवाले मुंशीयों को नियुक्त करके करोडों का धन खर्च किया !

एकबार ऐसा भी हुआ कि लिखने के लिए ताडपत्र कम पडे, तो जब तक ताडपत्र नहीं मिले, तब तक उन्होंने अन्न-जल का त्याग कर दिया ! 'मेरे गुरु इतने जबरदस्त विद्वान है, तो उनके शास्त्र लिखने में मैं पैसा पानी की तरह क्यों न बहाऊँ ? और ना बहा सकूँ तो मैं गुरु का भक्त कैसा ?' ऐसी थी उनकी ममता गुरु के प्रति। आपकी भी है ना... ? हाँ ममता तो है, पर गुरु पर नहीं, घरवालों पर !

कुमारपाल की देवाधिदेव के प्रति सक्रिय ममता :

महाराजा कुमारपाल ने सिद्धाचलजी का बड़ा संघ निकाला। सिद्धगिरि पर भी पहुँच गये। वहाँ तीर्थमाला पहनने के हक को छोड़कर 'जो ज्यादा बोली बोलेगा, वो तीर्थमाला पहनेगा।' सार्वजनिकों के बीच इस बात को जाहिर कर दी। क्यों ? इसके पीछे छुपी थी उनकी देवाधिदेव के प्रति उत्कृष्ट ममता !

जिसके कारण उन्होंने सोचा कि, 'आज का दिन मौके का दिन है, तो मैं ऐसे ही माला पहन लूँ, इससे ज्यादा बेहतर होगा कि बोली बुलवाकर मेरे दादा के भंडार को भरा दूँ !' भराया, और भराया तो कितना भराया ? सवा क्रोड रूपये ! 'वाह ! मेरे प्रभु का भंडार अच्छा भरा।' इस बात पर, सवा क्रोड का भंडार भरा के भी कितने खुश हुए होंगे !

लाखों खर्च करके संघ स्वयं ने निकाला, पर तीर्थमाला कोई ओर पहन ले, तो इसमें खुशी होगी ? हाँ, प्रभु पर सक्रिय ममता-भोग देने की तमन्ना थी, खुद का हक छोड़कर भी प्रभु का भंडार भरवाने की तत्परता थी, तब भंडार में अच्छा धन जाने पर खुशी की लहरें तो उठेगी ही ना ?'

जहाँ भोग देने की तमन्ना हो, वही सच्ची ममता है :

प्रश्न : क्या मन में यह नहीं लगेगा कि, 'लोग क्या सोचेंगे ? कुमारपाल कैसा मूर्ख है; संघ का खर्च स्वयं किया और माला किसी ओर को पहनने दी ?'

उत्तर : नहीं ! क्योंकि उन्होंने सोचा कि स्वयं माला पहन लेने से खुद की ममता दिखती है, पर दूसरों को बोली बोलकर माला पहनाने से मेरे प्रभु के भंडार में वृद्धि करवाऊँ, तो प्रभु के प्रति ममता दिखती है । इस प्रकार स्वयं से ज्यादा ममत्व प्रभु पर था ।

पूर्वभव में कुमारपाल द्वारा की गई देव–गुरु के प्रति की ममता की वसीयत :

तो सोचों ! कुमारपाल के मन में देवाधिदेव के प्रति, गुरु के प्रति, संघ–साधर्मिक के प्रति इतनी ज्यादा ममता कैसे जागृत हुई ? कहिये कि पूर्वभव में देव–गुरु के प्रति भारी ममता रखी थी ।

गुरु ने सिखाया है कि, 'देवाधिदेव की भक्ति स्वयं अपनी शक्ति और अपने द्रव्य खर्च करके करनी चाहिये ।'

'मेरे गुरु ने यदि ऐसा कहा है, तो फिर भले ही मेरी शक्ति मात्र पाँच कोडी खर्च करने की ही क्यों ना हो ? यह पूरी की पूरी प्रभु भक्ति में ही जानी चाहिये ।' इस प्रकार विचार करके पाँच कोडी के फूल लेकर प्रभु को चढाये और आनंदविभोर होकर नृत्य करने लगा कि मेरे प्रभु की भक्ति में मेरी छोटी ही सही, पर पूरी की पूरी पूंजी काम लग गयी । महा उपकार उस गुरुवर का भी जिन्होंने मुझे यह जैनधर्म दिया ! मुझे देवाधिदेव परमात्मा की पहचान करवायी !

इस देव–गुरु की भक्तियुक्त ममता के कारण उन्हें भवांतर में कुमारपाल राजा के अवतार में देव–गुरु–संघ–साधर्मिक सुलभ बने और उनके प्रति ममता उभरी ।

यहाँ इस भव में की हुई देव–गुरु–संघ–साधर्मिक प्रति ममता और उनके लिए किया हुआ समय–श्रम–संपत्ति का उपयोग भवांतर में देव–गुरु–संघ का रिझर्वेशन कर देता है ।

बात यह चल रही थी कि जंगल में सीता को राजा मिले, जो सीताजी को बहन

बनाकर अपने साथ ले गया और बहुत आदर-सत्कार से अपने महल में रखा। उनकी रानियाँ भी सीताजी की बहुत बहुमान से सेवा करती है !

देखों ! पुण्य का कैसा उदय अजब-गजब का काम करता है ! जब राम ने इनका त्याग किया तब राम को ऐसी कोई कल्पना भी नहीं थी, या ऐसा कोई इंतजाम भी नहीं किया था, कि 'सीता को दूसरा कोई राजशाही मान-सम्मान मिले' इसलिए इस विषय में राम का ऐसा कोई विचार या प्रयत्न भी नहीं था।

उसी प्रकार सीताजी के भी ऐसे कुछ प्रयत्न नहीं थे यानि एक अच्छा राजा आश्रयदाता के रूप में उन्हें मिलें ऐसी कोई भी खोज सीताजी ने नहीं की। फिर यह सब कैसे हो पाया ? कहना ही पड़ेगा कि सीताजी के पूर्वपुण्य के उदय से यह सब संभव हुआ।

अकाट्य कर्मसत्ता :

कर्मसत्ता के हिसाब को न मानने वाले नास्तिक मानव इसका क्या उत्तर देगें ? 'जंगल में बराबर उसी वक्त सीताजी को आश्रय देनेवाला कैसे मिल गया ? वो भी कोई ऐसा-वैसा नहीं, लेकिन बड़ा राजा !' यह कैसे संभव हुआ ?

नास्तिक कहेगें : 'बाय चान्स' मिला ! यह 'बाय चान्स' यानि क्या ?

जगत में कोई भी कार्य यूँ ही बिना किसी कारण नहीं बनते, कारण होगा तो ही कार्य होते है।

इसीलिए ही यहाँ कुछ भी प्रयास किये बिना भी जंगल में जो आकस्मिक घटनाएँ बनती है, उसमें कारण के रूप में सीताजी के पूर्वकर्म ही मानने पड़ेंगे। सीताजी को जंगल में असहाय छोड़ देने के बाद भी राजमहल में रहना और वहाँ ही प्रसूति होती है; वह भी पुण्योदय ! वरना यदि जंगल में ही प्रसूति हो जाती, तो कितनी उपाधियाँ और पापोदय के कष्ट सहने पड़ते !

मानव के जीवन में पुण्य-पाप का उदय-फल कितना प्रभावशाली होता है ! इसीलिए ही यहाँ जो अनुकूलताएँ मिली है यानि पुण्योदय है, तो उसका उपयोग विषय-विलास और कषायों को पुष्ट करने में नहीं, बल्कि त्याग के व्रत-नियम,

परोपकार, जिनभक्ति, सामायिक, स्वाध्याय और क्षमा आदि गुणों को विकसित, आत्मसात् करने में करना चाहिये । मन में ऐसी भावना रहे कि,

'ये अनुकूल साधन-सामग्री मिली है, वह पूर्वपाप का नहीं, पर पूर्वपुण्य का ही फल है । मुझे जो पुण्य की ओर से मिला है, तो क्या उसका उपयोग मैं पाप को पुष्ट करने में करूँ ? क्या पुण्यकार्यों को भूल जाऊँ ?'

दो पुत्र : लवण-अंकुश :

सीताजी ने दो पुत्रों को जन्म दिया, जिनका नाम रखा गया : लवण-अंकुश । ये ही लोकभाषा में लव और कुश नाम से पहचाने जाते है । लवण और अंकुश का पालन-पोषण यहाँ अच्छी तरह से होता है । मामा बने राजा उन्हें विविध कला-विज्ञान की तालिम सिखाने के लिए हर प्रकार की सुविधाएँ देते है ।

लेकिन वास्तव में लवण-अंकुश पूर्वजन्म की जबरदस्त धर्मसाधना के प्रताप से ऐसी कुशलता और बुद्धिशक्ति के साथ ही ऐसी विवेकशक्ति भी लेकर आये है कि उन्हें कुछ सिखाने की जरूरत ही नहीं है, फिर भी सामान्य निमित्त रूप में अध्यापक की जरूरत होती है, परंतु अल्प सूचन से ही वो इतनी निपुणता पा लेते है कि इससे यह भी कहा जा सकता है कि उन्हें विद्यादेवी की विशेष कोई साधना करने की जरूरत ही नहीं पडी, किन्तु विद्यादेवी ने स्वयं सामने से उनके पास आकर वरदान देती है ।

इसलिए जब एकबार राजा अध्यापक से पूछते है : 'लवण और अंकुश का अभ्यासक्रम कैसा चल रहा है ? और उन्होंने कितना पढ़ा ?'

तब अध्यापक कहते है : 'महाराजा ! वो पढ़े ही नहीं !'

यह सुनते ही राजा चौंक जाते है और पूछते है : 'क्या... ? यह क्या बोल रहें हो आप ? तो क्या वो पढाई के समय बाहर खेल-कूद ही करते रहे और मूर्ख ही रह गये ?'

अध्यापक कहते हैं : 'महाराजा ! ऐसी बात नहीं है, वो तो कला और विद्या में पारंगत बन चुके है ।'

राजा कहते है : 'तो क्या बिना पढ़े ही कला और विद्या में पारंगत बन गये ?'

बिना पढ़े कला–विद्या में निपुण :

अध्यापक कहते है : 'महाराज ! 'वो पढ़ें नहीं' कहने के पीछे मेरा यह भाव है कि उनको दूसरें विद्यार्थीओं की तरह पढ़ने की ना ही महेनत करनी पड़ी ! उन्हें तो मात्र कला–विद्या का दिग्दर्शन कराया कि तुरंत ही उन्होंने समझ लिया । फिर उनका प्रयोग वो विद्यासिद्ध की तरह ही करने लगे । इसलिए कहा धनुर्विद्या वगैरह उन्हें पढ़ने की, अभ्यास करने की जरूरत हीं नहीं पड़ी । उनको तो मानों कि विद्यादेवी ने सामने से आकर वरदान दे दिया !'

राजा तो अध्यापक की बातें सुनकर बहुत ही ज्यादा खुश हो गये और दोनों कुमारों की कुशलता, चतुराई और विद्यासिद्धि की प्रतिभा पर निहाल–निहाल हो गये ।

८. विशेषता : आमन्या + गौरव

यहाँ एक सवाल यह भी उठता है कि, 'राजा को अपने पुत्रों से भी यह दोनों की इतनी उच्च कुशलता एवं विद्यासिद्धि देखकर जरा भी ईर्ष्या नहीं हुई ? नहीं ! क्योंकि राजा को ईर्ष्या ना होने में सीताजी की विशेषता ही कारणभूत बनी ।

राजा को ईर्ष्या ना होने के पीछे सीताजी की विशेषता :

विशेषता यह है कि,

(१) उत्तम स्वभाव,

(२) सुशील होने के उपरांत यहाँ राजा की बहन बनकर रहे थे ।

(३) राजा को एक बड़े भैया की तरह सिर पर रखकर उनकी आमन्या और उनके गौरव को बिना ठेस पहुँचाये रहे थे, उसी प्रकार,

उनकी रानियों के साथ भी एक समझदार प्यारी ननंद के रूप में सहानुभूति एवं गुणानुराग गुणों से मिल-झूल के रहे थे ।

इसी कारण राजा को सीताजी के प्रति बहुत ही सद्‌भाव और भारी गुणानुराग है ।

यहाँ यह सोचों कि सीताजी राजा की आमन्या पालते है, मतलब क्या करते है ? और राजा का गौरव बढ़ाते है, मतलब क्या करते है ? यह समझने से पहले एक सामान्य नियम समझने जैसा है कि...

बड़ों की आमन्या पालने के लिए क्या-क्या करना चाहिये ? :

बड़ों के आज्ञाकारी बनने के लिए,

(१) पहले तो बड़ों के प्रति अपने व्यवहार में विनयभाव होना चाहिये । अर्थात् बुझुर्ग हमें बुलाये, तब 'बोलो, क्या काम है' ऐसा न बोले, परंतु 'हा जी !' ऐसे विनयपूर्वक शब्दों का प्रयोग करे, और

(२) उनके पास जाकर कहे : 'फरमाइये ! तब वडील के कार्यसूचन बाद
(३) 'तहत्ति' या 'ठीक है जी' कहे,
(४) और उनके कार्यसूचन के अनुसार कार्य का अमल भी करे ।

आजकल की स्कूलों में बड़ों के प्रति यह विनय कहाँ सिखाया जाता हैं ? तो सोचों, बिना विनय की शिक्षा कैसी ? बड़े मंत्री भी यह करते है, तो ही राजा के आज्ञाकारी गिने जाते है, तो फिर ओरों की तो बात ही क्या ? मान लिया कि, कहीं-कहीं पर बड़ो की भी गलती हो जाती है, फिर भी हम बड़ो की आमन्या-आज्ञा का पालन करतें हैं, तो एकबार तो 'हा जी' उत्तर ही देना चाहिये; बाद में विनयपूर्वक सच परिस्थिति उन्हें ज्ञात की जा सकती है ।

शास्त्र में शिष्य की आमन्या का उदाहरण :

'उपदेशमाला' नाम के शास्त्र में एक उदाहरण दिया गया है कि, गुरु शिष्य से कहतें हैं : 'देख, वह सफेद कौआ कितना शोरबकोर मचाता है !' तब गुरु की आमन्या रखनेवाला शिष्य बोलता है : 'हा जी !'

शिष्य किस बात पर 'हा जी' उत्तर दे रहा है ? काले कौए को सफेद कौआ कहा; उस बात पर ? क्या शिष्य को दिखाई नहीं देता है ? या तो क्या वह शिष्य इतना अक्कलमंद है कि, 'कौआ कभी सफेद नहीं होता, काला ही होता है' इतना भी समझ ना सके ? नहीं, शिष्य देख भी सकता है और समझ भी सकता है; परंतु गुरु के प्रति उसकी आमन्या गुरुवचन का प्रतिकार नहीं करने देती है। एकबार तो शिष्य गुरुवचन का 'तहत्ति' बोलकर स्वीकार कर ही लेता है । बाद में, बात समझ न आई हो, तो एकांत में गुरु को पूछ लेना चाहिये ।

उदा. प्रस्तुत दृष्टांत में शिष्य पूछे : 'गुरुदेव ! मुझे कौआ काला ही दिख रहा है, आपने कौए को सफेद कहा; तो आपकी बात का रहस्यार्थ मुझे समझ नहीं आ रहा है ।'

तब गुरु समझातें हैं : 'देखों महात्मन् ! कौआ बाह्य रूप-देखाव से काला है, परंतु हृदय से - अपने गुण से वह सफेद है । क्योंकि उसे यदि रास्ते में गिरी हुई कुछ भी खाने-पीने की चीजें मिलती है, तो वह अकेला नहीं खाता है, मगर पेड़ पर या तो किसी मकान की छत पर जाकर 'का... का...' चिल्लाकर

दूसरें कौओं को भी बुलाता है ! इसमें कौए की परार्थवृत्ति है, यह उच्च गुण है; इसलिए कौआ सफेद अर्थात् उज्ज्वल है ।'

जिसके हृदय में सिर्फ अपना ही स्वार्थ है, वह अंतर से मलिन है, काला है; चाहे वो बहार से सफेद भी क्यों न हो ?

परार्थवृत्ति में मानवता है :

कौए से मानव को सीख मिलती है कि, चाहे आप बाह्य चमड़ी के रूप से सफेद न भी हो, मगर हृदय से सफेद बनों । इसके लिए स्वार्थ को गौण करके परार्थ को प्रधान बना दों ।

- दूसरों का भला करों ।
- अपनी चीजों का दूसरों के लिए उपयोग करों ।
- अपने कार्य करते वक्त भी अन्यों का भी खयाल रखों कि मेरे यह कार्य से दूसरों को विघ्न तो नहीं होगा ना ?
- अपनों द्वारा दूसरों का कुछ भी, जरा-सा भी ना बिगड़े, इसका ध्यान रखों ।

यदि ऐसी परार्थवृत्ति नहीं होगी, तो आप मानव होकर कौए से भी अधम गिने जायेंगे । अज्ञानी कौए में यदि इतनी समझ है, तो समझदारी का हक लेकर घूमनेवाले हमारे में इतनी-सी भी समझ नहीं होनी चाहिये ? यदि नहीं है, तो हमारे में मानवता है या नहीं, यह भी प्रश्न है ।

गुरुदेव ने जो रहस्य बताया, उस पर शिष्य चकित हो गया । शिष्य सोचता है : '**अहो ! जिनशासन का कैसा कल्याणकारी आमन्या-धर्म !** मैंने गुरु की आमन्या पालने के लिए ही 'सफेद कौआ' - गुरुवचन को तहत्ति कहकर मान लिया, तो गुरु-आशातना के पाप से बच गया !'

'अन्यथा, सब लोग के समक्ष ही मैं गुरुवचन का प्रतिकार करता कि, 'कौआ और सफेद ? कौआ तो काला ही होता है । तो गुरु की आशातना तो होती ही, साथ-साथ दूसरों के समक्ष गुरु का अपमान भी होता ।'

'तब, गुरु रहस्य बता दें कि, 'मूर्ख ! बहार की चमड़ी को क्या देखता है, दृष्टि है तो उसके हृदय की उज्ज्वलता को देख कि, मानव जैसा मानव भी अधम

हृदय के कारण परार्थवृत्ति गुण से भ्रष्ट हो जाता है, तब यह कौआ जैसा अज्ञानी जीव भी उत्तम हृदय के कारण परार्थवृत्ति गुण को आत्मसात् कर लेता है।' गुरु ऐसा रहस्यार्थ को बता देतें, तो दूसरों के बीच मेरी क्या इज्जत रहती ?'

धन्य आमन्या ! धन्य जिनशासन ! आमन्याधर्म इस प्रकार बड़ो के वचन को 'तहत्ति', 'तथास्तु', 'हा जी' कहकर स्वीकार कर लेना सिखाता है।

(५) बड़े जहाँ बैठे हो, तब उनके सामने ऊँचाई पर (कुर्सी आदि पर) नहीं बैठना चाहिये, पैर पसार कर नहीं बैठना चाहिये, जोर से-ऊँची आवाज में चीख कर नहीं बोलना चाहिये, वगैरह वगैरह...

(६) उसी तरह कोई हम से कुछ भी पूछे, तो हमें यही कहना चाहिये कि, 'बड़ों से पूछ लो,' या 'बड़े जाने', या 'बड़े जो कहें वही हमें प्रमाण।'

(७) बड़ों ने कुछ किया हो और वे हमें बताये कि, 'मैंने ऐसा किया है' तो मर्यादाधर्म यह है कि, प्रत्युत्तर में हमें ऐसा कहना चाहिये : 'पूज्य ! इसमें आपको मुझे बताने भी कोई जरूरत नहीं है। आप हकदार हो, आपने जो भी किया, वह ठीक ही है।'

दशरथ के प्रति राम की असीम मर्यादा :

दशरथ ने कैकयी को दिये वचन के कारण कैकयी ने वरदान माँगा और जो राज्य उन्हें अपने बड़े पुत्र राम को देना था, वो भरत (कैकेयी के पुत्र) को दे दिया ! उसके बाद दशरथ राम को बुलाकर यह बात बताते है, तब राम यही जवाब देते है :

'पिताजी ! यह बात मुझे बताने की भी जरूरत नहीं है। क्योंकि राज्य के मालिक आप हो, मालिक चाहे उसे अपना राज्य दे सकता है। अरे ! एक हवालदार जैसे सामान्य आदमी को भी आप राज्य दे दों, तो मुझे यह भी मंजूर है। आपने भरत को राज्य सौंपा, उसका मैं सहर्ष स्वीकार करता हूँ।'

'अच्छा हुआ आपने मेरी माता कैकेयी को दिया वचन निभाकर अपना कर्ज चुका दिया और अपने सिर से यह बोझ उतार दिया। ऐसे तो, सुपुत्र का फर्ज होता है कि पिता की ऊँधारी-ऋण चुकाना, पर जब पिता जीते जी स्वयं ही

यह ऋण उतार दें, तो सुपुत्र को आनंद ही होगा ना ? फिर उसमें भले ही पुत्र को अपना लाभ नजरअंदाज क्यों ना करना पड़े ।'

यह सब कौन बुलवा रहा है ? कहों कि रामचन्द्र के हृदय में रहा पितृ-मर्यादाधर्म !

सीताजी राजा वज्रजंघ के आश्रय में रहते हुए अनेक बातों में इसी प्रकार राजा के प्रति मर्यादाधर्म को सिरोधार्य करके जीवन व्यतीत कर रहें हैं । इस प्रकार, आमन्या-विनय आदि अनेक अद्‌भुत गुण और मृदु-उत्तम स्वभाव को आत्मसात् करनेवाले सीताजी के प्रति राजा को कितना स्नेह-सद्‌भाव होगा ? तो, राजा को सीताजी के पुत्रों से ईर्ष्या कैसे होगी ?

बड़ों का गौरव बनाये रखने के लिए क्या-क्या करना चाहिये ? :

बड़ो के प्रति मर्यादाधर्म निभाने के साथ-साथ उनके लिए हृदय में गौरव धारण करना भी जरूरी है । जिन्हें गौरव होता हैं, वे समझते हैं कि 'हमारे बड़े-बुझुर्ग गुणसम्पन्न हैं, मेरे पूज्य हैं, हर प्रसंग पर मार्गदर्शन लेने योग्य हैं, प्राथमिकता देने योग्य हैं । बड़े-बुझुर्गों के प्रति हृदय में यह गौरव हो, तो उसी प्रकार का व्यवहार भी होता है ।

गौरवपूर्ण व्यवहार करने के लिए क्या-क्या करना चाहिये ? यही कि...

(१) स्वयं को कोई चीज या मान-यश-प्रशंसादि मिलते हो, तो वो सब चीज-यश आदि संभव हो तो बड़े-बुझुर्गों को मिले; ऐसा प्रयत्न करें ।

देखों, भरत-लक्ष्मण के हृदय में राम के प्रति गौरव था, इसीलिए तो राम की मौजूदगी में भरत को राज्यगद्दी मिलती हैं, तब भी वो उस पर बैठने को तैयार नहीं होते हैं । इसी कारण राम ने स्वयं ही पिता के पास वनवास माँग लिया और वनवास के लिए निकल भी पड़े । कितना बड़ा त्याग ! कितना महान त्याग !

(२) बड़ों के वचन का पालन हो ही; ऐसा प्रबंध करें ।

राम के हृदय में पिता के लिए गौरव था, तो पिता ने कैकेयी को दिया वचन का पालन तभी होगा, जब भरत राज्यसत्ता को सँभाले; इसीलिए स्वयं वनवास का स्वीकार करके राम ने भरत को राज्यसत्ता सँभालने का आग्रह किया ।

(३) बड़ों के वचनों का पालन हो; इसके लिए महान त्याग करें ।

लक्ष्मण के हृदय में राम के प्रति गौरव था, इसलिए वो स्वयं भी बड़े भाई राम के साथ वन में निकल पड़े । 'पूज्य बड़े भाई वन में भटके, तो मैं महलों में कैसे रह सकूँ ?'

(४) बड़ों की आपत्ति में सहकार दें ।

दमयंती के हृदय में पति नल राजा के प्रति गौरव था, तभी तो नल राजा को अपने भाई पुष्कर के साथ जुआ खेलने से रोकने की कोशिश की, पर नल नहीं रूके । और इसका अंत यह हुआ कि उन्होंने अपना राज-पाट सब गँवा दिया ! अब जंगल में जाने का अवसर आया, परंतु दमयंती के हृदय में राजा नल के प्रति गौरव होने के कारण उन्हें एक ताना भी नहीं मारा कि 'मैंने कितना समझाया था, पर आप माने ही नहीं तो अब झेलों इसका परिणाम !'

(५) बड़ों की गलती नहीं देखें ।

दमयंती को अपने पति पर गौरव था, इसीलिए पति की भूल नहीं देखी, पति का स्वामिपन ही दिखा उसे । स्वामी अर्थात् स्वामी, वो स्वतंत्र है, मैं परतंत्र हूँ । हमारे हृदय में जिनके प्रति गौरव हो, उनकी भूल नहीं देखनी चाहिये ।

(६) बड़ों की विशेषतायें देखें और दूसरों के सामने उनके गुणगान करें ।

दूसरों से बात करते समय भी उनके विषय में मान भरें शब्द ही निकालें । यदि कोई उनके विषय में तुच्छ या निकृष्ट बातें बोले, तो वो नहीं सुने, ना ही उन्हें जरा भी महत्त्व दें । संभव हो वहाँ पर तो प्रतिकार भी करें ।

सीताजी राजा वज्रजंघ प्रति मर्यादाधर्म के साथ-साथ इतना गौरव भी रखते थे, और राजा की रानी के प्रति सहानुभूति, गुणानुराग आदि भी था, इसलिए राजा के मन पर सीताजी के लिए कितना उच्च सद्भाव होगा ! तो फिर राजा को सीताजी के पुत्रों में खुद के पुत्रों से भी ज्यादा विशेषता देखकर ईर्ष्या कैसे हो सकती है ?

राजा को ईर्ष्या ना होने का एक ओर कारण था लवण-अंकुश की गुणवत्ता :

राजा को ईर्ष्या नहीं थी, क्योंकि सीताजी के पुत्र लवण-अंकुश में लियाकत-

विनय-मर्यादा के गुण भरपूर थे, इससे राजा उनके प्रति अतीव आवर्जित थे। उस आकर्षण में राजा को ईर्ष्या कैसे हो सकती है ?

दूसरों को अपने प्रति ईर्ष्या होती है, तो उसमें गलती अपनी हैं :

इससे यह बात सिखने मिलती है कि, दूसरों की ईर्ष्या का भोग ना बनना हो, तो हमें विनय, मर्यादा, उत्तम उदार स्वभाव, परगुण-प्रशंसा, सेवा-भाव, सहानुभूति, सुशीलता... वगैरह गुण सिखने, आचरण करने और अनुमोदना करने जैसे है। मूल नींव में ही कमी हो, तो फिर जब दूसरें ईर्ष्या करें, तब हम विचलित हो जाये, संताप करे; यह कितना उचित ? और इससे क्या प्राप्त कर पाते है हम ?

लवण-अंकुश के प्रति राजा को ईर्ष्या नहीं होती है, इसमें राजा की विशेषता तो अवश्य है ही, पर लवण-अंकुश की भी विशेषता थी और सीताजी की भी विशेषता थी।

९. महानता : धिक्कारने वाले पर भी सद्भाव

अब सीताजी की ओर एक महान विशेषता देंखो :

लवण-अंकुश अब तक अनजान थे, पर जब दूसरों के पास से उन्हें जानकारी मिली, तब सीताजी के पास आकर कहने लगें : 'माँ ! आपने तो हमें आज तक अंधेरे में ही रखें ! हमें तो आज पता चला कि हमारे पिताजी और चाचा ने आपको जंगल में भेज दिया, तो यह बात आज तक आपने हमें क्यों नहीं बतायी ?'

सीताजी का गंभीर स्पष्टीकरण :

सीताजी की कितनी गंभीरता ! कि इतने बरस बीत गये, पर अब तक अपनी भयंकर व्यथा नहीं बतायी ! वरना, पति के विरहकाल में अपने लाडले पुत्र ही आश्वासन और विश्वास रूपी सहारा होते हैं, तो क्या उन्हें बताने का मन नहीं होता होगा ? दुःख की क्षणों में मानव को दूसरों के आगे स्वयं का दुःख कहने का मन होता है और इस तरह ओरों को अपना दुःख बताकर मन प्रसन्न होता है; ऐसा मानता है, मगर यह भ्रम है, क्योंकि,

पुराने दुःख को बार-बार याद करने से

- **आर्तध्यान होता है,**
- **असमाधि होती है,**
- **कायरता आती है, और**
- **सत्त्व क्षीण होता है ।**

इन सब नुकसानों का विचार करके बिते हुए दुःखों को याद ही नहीं करना चाहिये और किसी कारण वश यकायक याद आ भी जाये, तो तुरंत ही यह विचार करना चाहिये कि, 'चक्रवर्तियों के छ खण्ड भी चले गये थे, तो उसके सामने मेरा तो ऐसा क्या चला गया है ? मुझ पर ऐसा कौन-सा पहाड़ टूट गया ?

सगरचक्री ने तो एक ही साथ अपने ६०,००० पुत्रों के मोत की खबर सुननी पड़ी थी; ऐसा अवसर मेरे जीवन में कभी आया क्या ?' इस प्रकार, महापुरुषों के जीवन में आयी भयंकर आपदाएँ को याद करेंगे, तो उनके सामने हमें हमारी तकलीफ और आफतें सब तुच्छ-सी प्रतीत होगी । इस से हमारा दुःख हल्का हो जायेगा, बार-बार याद नहीं आयेगा और हम आर्तध्यान करने से बच जायेंगे ।

दुःखों को बहुत याद करते है और बार-बार याद करते है, इसीलिए तो दूसरों के सामने रोने-धोने का मन होता है । सीताजी ने इस महादुःख को भी कैसे उच्च विचारों से मन में से निकाल दिया होगा, तभी तो इतने वर्षों में एकबार भी इसके बारे में अपने पुत्रों को बात तक नहीं की ।

दुःखों को अनदेखा कर दों, तो उसके पीछे रोने का मन नहीं होगा ।

दुःखों को अनदेखा करने के उपाय :

प्रश्न : सीताजी ने इतने बड़े दुःख को अनदेखा कैसे कर दिया ?

उत्तर : दुःख को नजरअंदाज या अनदेखा करने के लिए उन्होंने इस प्रकार चिंतन किया होगा कि ...

(१) राजरानी होते हुए भी जंगल में तिरस्कार-पूर्ण असहाय छोड़े जाने का दुःख बहुत ही बड़ा हैं, परन्तु मेरे संसार-परिभ्रमण के दुःख, जंगल-परिभ्रमण के दुःख से कहाँ कम है ? कि मैं उसे याद करके मात्र इस एक भव के तिरस्कार करके जंगल में असहाय छोड़े जाने के दुःख पर रोऊँ ? संसार में तो बड़े से बड़े इन्द्र हो या दिव्य समृद्धिवान देव हो, उनको भी मृत्यु के पश्चात् अकेले-असहाय कहीं न कहीं जाना ही पड़ता है (जन्म लेना ही पड़ता है) !

यहाँ जंगल में जाने से सब सुखों का अंत हुआ दिखता है, पर जंगल में भी शुद्ध हवा, रोशनी, बैठने लायक जगह, खाने के लिए फल-फूलादि सुख तो मौजुद है और मार-पीट, छेदन-भेदनादि के दुःख नहीं है । जबकि बड़े से बड़े इन्द्र का भी मृत्यु के बाद माँ की कुक्षि में कैद-सा होना पड़ता है, वहाँ ना ही हवा होती हैं ना ही उजाला; कुछ भी नहीं होता । इन सब संसार के दुःखों के आगे

इस जंगल में छोड़े जाने का दुःख कौन-सा बड़ा हैं ? यह विचार से सीताजी ने वर्तमान के इतने बड़े दुःख को भी छोटा-सा मानकर अनदेखा किया होगा ।

(२) अथवा ऐसे विचार किये होंगे कि, मैं इन सांसारिक सुख-सुविधाओं के जाने के दुःख पर क्यों रोऊँ ? आज तक मेरी आत्मा, जो अहिंसा-संयम-तप-शास्त्रबोधादि आध्यात्मिक संपत्ति से वंचित रही; यह दुःख कितना बड़ा है ! संसार के सत्रह पापस्थानकों के फंदे में फसे रहने का दुःख कितना बड़ा है ! अच्छा ही हुआ कि मुझे यह बाह्य दुःख आया, तभी तो आँखें खुली और अभ्यंतर दुःख को टालने की बुद्धि हुई, अब अंतर के दुःख को मिटाने का सुनहरा अवसर जानकर इसके लिए प्रयत्नशील बनूँगी । इस प्रकार के विचार करने के कारण भी वर्तमान का दुःख छोटा और मामुली-सा प्रतीत हुआ होगा ।

(३) या फिर, 'संसार के नरकादि के दुःख कितने भयानक और जालिम है कि उसके आगे यह वर्तमान के दुःख का महत्त्व ही क्या ?' इस विचार से उनको वर्तमान दुःख ना के बराबर ही प्रतीत हुआ होगा । मन को लगे कि, 'जब मैं यह दुःख को सह रही हूँ, उसी वक्त यह भूमि के नीचे सात पाताल में असंख्य नारकी जीव नरक के दुःखों की भयंकर पीड़ा को झेल रहे है और चीख रहें है ! उन तड़पते-पिखते नारकी जीवों के सामने मेरे दुःखों का तो जरा भी महत्त्व नहीं है । उनके मुकाबले मैं कौन-सी दुःखी हूँ ?' इस विचार से उन्हें दुःख ना के बराबर लगा होगा ।

(४) यह भी संभव है कि सीताजी को लगता हो कि, 'यह दुःख ही, संसार के सुख से भी ज्यादा प्रभावशाली है, आत्मा को जगाने के लिए । भगवान और धर्म; दोनों की याद दिलाता है, फिर ऐसी जागृति देने वाला दुःख तो आशीर्वाद रूप ही गिना जाएगा ना ?' यही समझ उन्हें वर्तमान दुःख को छोटी-सी साधारण घटना के रूप में गिनने के लिए सहायक बनी होगी, तो फिर पुत्रों के सामने क्यों अपने जंगल के दुःखों की बातें कहेंगे ?

(५) अथवा, 'दुःख तो पापकर्मों का नाश करनेवाला है । कर्म खपाने का ऐसा सुंदर अवसर फिर नहीं मिलेगा ।' यह विचार करने के कारण दुःख पर रोते नहीं होंगे ।

ऐसे ऐसे विचार करके सीताजी जंगल के दुःखों को तुच्छ समझ कर स्वस्थ रहते हो, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

नवकार गिनने वाला क्यों दुःखी नहीं होता ? :

इसका कारण यह है कि, जो नवकार गिनता है, वह पंच परमेष्ठी के स्वरूप को पहचानकर ही गिनता है । उस पंच-परमेष्ठी के स्वरूप का विचार करते-करते वर्तमान के दुःख को नजरअंदाज करने की विचार-शक्ति मिलती है । यदि उनके ही स्वरूप के विचार में खोये रहो, तो वर्तमान के बड़े से बड़ा दुःख भी मामूली-सा प्रतीत होगा, इसलिए जीव मन से दुःखी नहीं होगा । भगवान पर भयानक दुःख आये, दुःखों की बरसात हुई, पर भगवान दुःखी नहीं थें, क्यों ? उपरोक्त विचारधाराएँ मन में रहेती होंगी, तभी तो वर्तमान का दुःख दुःखरूप ही नहीं लगा होगा । वो तो समझते है कि...

यह बाह्य दुःख तो अशुभ कर्म का उदय नहीं है, पर अशुभ कर्म के कूड़े को साफ करने का अवसर है ।

अशुभ कर्म तो आत्मा के अंदर का कूड़ा है । दुःख के अवसर पर उन कूड़े की होली जलती है, यह खेद की नहीं, पर आनंद की बात ही माननी चाहिये ।

सीताजी इन विचारों से मस्त और प्रसन्न रहते हो, दुःखों को महत्त्व ना देते हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं ! दुःख तो अनदेखा और महत्त्व-हीन समझने के बाद, किस बात पर रोना रोएँ ?

वर्तमान जीवन में दुःखों को ऐसे नजरअंदाज करने की या जरा भी महत्त्व नहीं देने की यह विचार-धारा उच्च तत्त्वज्ञान जैसी लगती है ! इसी कारण इनका अमल करना कठिन दिखता है, परंतु इनके अमल किये बिना ओर कोई रास्ता ही नहीं है । क्योंकि कठिन कर्मों के उदय से जब दुःख सिर पर आ ही पड़े है और यूँ ही चले जाएँ; ऐसा भी नहीं है, तो फिर उनके कारण रोते-तड़पते-जलते बैठे रहना उचित है क्या ? नहीं !

यह तात्त्विक चिंतन दुःखों में मन को राहत पहुँचाता है, मन को आर्तध्यान से बचाता है । मन, ऐसे-वैसे दुःखी विचार करके रोये, कायरता पूर्ण विचार करे, इससे बेहतर तो यही है कि तात्त्विक विचारशैली ही क्यों न रखें ?

प्रश्न : क्या तत्त्वचिंतन से दुःख कम होता है ?

उत्तर : हाँ, क्षत्रिय का पुत्र लड़ाई में बहुत घायल हो गया हो, पर विजय प्राप्त कर ली हो, तो उसे घायल होने का जरा भी दुःख नहीं होगा । क्योंकि उसके मन में विजय का आनंद बहुत अधिक है । बस,

ऐसे ही दुःख के समय यदि कर्म–कूड़े की सफाई का आनंद रहे, तो दुःख में रोना कभी नहीं आयेगा ।

क्षत्रिय युद्ध में जरूरत पड़े, तो प्राण भी न्योछावर कर देने की हद तक लड़ता है । मन में देश–सेवा, आश्रित–सेवा या अन्नदाता राजा के प्रति नमकहलाल बनने के कर्तव्यों का भान हो, तो वो मन को दुःखी होने नहीं देता ।

यह सब उदाहरण यही सूचित करते है कि अवश्य ही वो मौत तक युद्ध लड़ते है, फिर भी मन में कभी कायरता नहीं आती, मन रोता नहीं, क्योंकि...

दुःख के होते भी मन में दूसरा बड़ा आनंद हो, कर्तव्य पालन की जिम्मेदारी हो, तो दुःख ना के बराबर लगता है ।

भीषण गर्मी में रसोईघर में खाना बनानेवाली गृहिणी कभी भी गर्मी का रोना नहीं रोती । उम्मीद से दुगुना तनखाह या मेहनताना पानेवाला कर्मचारी कभी भी कष्ट का रोना नहीं रोता । वे तो गर्मी और कष्ट को दुःखरूप गिनते ही नहीं है ।

तो बस, तात्त्विकचिंतन से यही बल मिलता है कि मन में दुःख का भार कम हो जाता है, हट जाता है ।

सीताजी ने तात्त्विक चिंतन से जंगल के महादुःख को भी अनदेखा कर दिया, जिसके कारण उन्हें पुत्रों के समक्ष यह दुःख रोने जैसा कुछ लगे भी क्यों ? परन्तु अब जब पुत्र ने बाहर किसी ओर से सुना और आकर उन से पूछा, तब सीताजी उनसे कहते है कि...

सीताजी का भव्य उत्तर :

'देखों पुत्र ! जंगल में त्यागने का कार्य तो मेरे ही पूर्वकृत कर्मों ने किया है, तो अपने पिता पर आरोप क्यों लगा रहे हो ? वे तो पुरुषोत्तम हैं । जिनके साम्राज्य

में सबको लीलालहेर है, उनकी इतनी उतमत्ता के बावजूद भी मेरे जीवन में कमी क्यों आयी ? तो कहना ही पड़ेगा कि उसमें उनकी उत्तमत्ता की कोई कमी है; ऐसा नहीं है, परंतु मेरे ही पुण्य की कमी के कारण यह परिस्थिति हुई है ।'

सीताजी मन से कितने स्वस्थ होंगे कि उनकी वाणी से अपने पति, जिन्होंने उनका त्याग किया, उनके प्रति ऐसे वचन निकल रहे हैं ! इतना समझ लो कि,

जो हृदय में, वह जुबान पर ! मुख से अधम वाणी निकलने के पीछे हृदय की अस्वस्थता और अधमता काम करती है ।

सीताजी का मन अस्वस्थ नहीं है, तो फिर अधम बोल या पति के प्रति रोषपूर्ण शब्द कैसे निकलेंगे ? मन में स्वस्थता और उत्तमत्ता थी, इसी कारण मन मंदिर में प्रभु का वास्तविक वास भी था, जिनकी शक्ति के कारण दिव्य चमत्कार के विजय के बाद भी सीताजी ने प्रभु का मार्ग अपना लिया । हमें भी प्रश्न होता है कि,

प्रश्न : मेरे मन में भी प्रभु बसे है, प्रभु-नाम का जाप भी चालु है, फिर भी मुझे प्रभु के मार्ग को अपना लेने के भाव और तड़प क्यों नहीं उठती ? अवसर आने पर उत्तम शब्द और स्वस्थता क्यों नहीं रह पाती ?

उत्तर : इससे समझ लो कि, इसीलिए ज्ञानी यह उपदेश देते है कि, 'मन में प्रभु का नाम बसाना है ? प्रभु को बसाना हैं ? तो मन से काम-क्रोध-मोह-लोभ-मद-ईर्ष्या-वैर इत्यादि अधमताओं को निकाल फेंको, तभी वास्तव में मन में प्रभु का वास हो पायेगा और तभी सही मायनों में प्रभु हमारे मन में बसे है; यह साबित होगा ।'

मन में सचमुच प्रभु का वास हो तो, प्रभु के मार्ग पर चलने की उम्मीद रहती है और उत्तम वाणी, उत्तम बोल तथा स्वस्थता सुलभ बनती है ।

अब बताइयें कि, दीक्षा प्रभु का मार्ग है, तो उसे लेने की रुचि क्यों नहीं ? मानना ही पड़ेगा कि अभी तक वास्तव में हमने प्रभु को मन में बसाये ही नहीं और प्रभु का नहीं बसने का कारण भी यही है कि मन में तो काम-क्रोध-लोभ-वैरादि भरे पड़े है । इन अधमताओं के रहते प्रभु को कैसे बसा पायेंगे ?

सीताजी के मन में अधमताओं के लिए जगह ही नहीं थी, इसलिए उनके मन-मंदिर में प्रभु का वास था । तभी तो दिव्य चमत्कार के बाद भी सब दुनियाँ जय-जयकार करती हैं, तब सीताजी उसे अनदेखा करके प्रभु के चारित्रमार्ग को अपना लेते हैं । और अभी भी पुत्रों से पति की उत्तमत्ता की बात कर रही है, पर पुत्र तो मातृभक्त है, इसलिए सीताजी से कहते हैं कि,

लवण-अंकुश का प्रत्युत्तर : पिता के साथ युद्ध :

'माँ ! तत्त्वदृष्टि से आप मान लेते हो कि जंगल में त्यागने का कार्य कर्मवश हुआ, किन्तु यह भी हकीकत ही है कि लोकनिंदा के ड़र और दबाव से हमारे पिताजी ने आपका त्याग करके जंगल में भेजा ! तो क्या उन्हें ऐसा लगता है कि सीता की कोई रक्षा करनेवाला नहीं है, इसलिए उसे यूँ त्याग दिया जा सकता है ? अब हम रक्षा करनेवालें तैयार खड़े है, यही बात हमें उन्हें बतानी है उनसे युद्ध करके ।'

'इसलिए माँ ! हम पिताजी और चाचा से युद्ध करने जा रहे है, तो आप हमारे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दों कि 'पुत्रों ! विजयी बनों ।'

लवण-अंकुश की यह हिम्मत ? :

लवण और अंकुश बच्चे है, फिर भी इतने बड़े महारथी रामचन्द्रजी के सामने लड़ने की हिम्मत कैसे जुटा पायें ? किस विश्वास की ताकत पर यह साहस कर रहे हैं ? विश्वास इस बात पर है कि वे कला-विद्या-विज्ञान में कुशल बन के अपने आश्रय दाता मामा के पास से सेना लेकर शूरवीर राजाओं के साथ युद्ध करके विजय हासिल किये थे और उन राजाओं को पकड़कर मामा राजा के चरणों में ले आये थे ।

पर, लवण-अंकुश जब युद्ध के लिए रणभूमि जाते, उसके पहले राजा अपने मन ही मन समझते थे कि, 'मैं इतना बड़ा राजा हूँ, जब मैं भी उन राजा को नहीं जीत पाया, तो यह छोटे-से बालक कैसे जीतेंगे ? कहीं व्यर्थ ही इनकी जान ना चली जाएँ ?' ऐसा सोचकर राजा उनको मना कर देते थे, युद्ध में जाने के लिए ।

पर ये बहादूर वीर कहते कि, 'हम बहादूर बाप के बेटे है। सिंह के बच्चे भले ही उम्र में छोटे हो, पर बड़े-बड़े हाथी को भी परास्त करने की क्षमता रखते है, इसलिए आप चिंता ना करें। हम युद्ध जीत कर ही लौटेंगे।'

इस प्रकार कई राजाओं से युद्ध करके उन्हें परास्त करके मामाश्री के चरणों में गिरा दिये थे। तो अब राम और लक्ष्मण के साथ युद्ध करने में उन्हें ड़र कैसे लगता ? इसीलिए इसमें जीत हासिल करने के लिए माता सीताजी से आशीर्वाद माँग रहे हैं।

क्या सीताजी आशीर्वाद देते हैं ? :

सीताजी की महानता : धिक्कारने वाले पति पर भी सद्‌भाव :

यहाँ सीताजी की महानता देखने को मिलती है। सीताजी उदारतापूर्ण जो उत्तर देते हैं, वह मननीय है।

ऐसे समय पर दुनियाँ का कोई साधारण मानव होता, तो उसे यह कहने का मन होता कि, 'यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो जाओं; मेरे आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ ही है। पर इतना खयाल रखना कि तुम्हारे पिताश्री और चाचा को पीड़ा न पहुँचे।'

किसी ओर औरत पर यह सब बीती होती, तो संभव था कि वह ऐसा बोल कर आशीर्वाद दे देती, मगर यहाँ तो सीताजी थे, जिनके मन में लेशमात्र भी ऐसा कुछ भी नहीं था, क्योंकि उन्हें अपने उपर हुए अत्याचार के लिए पति राम पर जरा भी दुर्भाव नहीं था। सीताजी अपनी दुःखद परिस्थिति के लिए रामचन्द्रजी को जरा भी दोषी नहीं मानते थे, इसलिए उनके हृदय में पति के लिए ना ही गाँठ थी, ना मन में कोई द्वेष। तो पति से विरुद्ध बोली बातों में हाँमी कैसे भरते ? आपको लगेगा कि,

प्रश्न : पति के प्रति मन में रोष ना भी हो, पर स्वयं पर बीते भयानक दुःख के कारण मन में थोड़ा तो दुःख होगा ही ना कि 'मेरे साथ ही यह सब क्यों हुआ ?'

उत्तर : नहीं, सीताजी अच्छी तरह समझते थे कि ऐसा दुःख मन में भर रखने से मन को संताप देकर, दुःखी करके क्या लाभ ? और जगत के जीवों

की ओर मुड़े तो पता चलेगा कि, नरक में असंख्य वर्षों तक और वो भी एक भी क्षण के अंतर बिना बरसने वाली भयानक यातनाएँ, वेदनाएँ और घोरातिघोर कष्ट हो रहे है । उसके सामने यह जंगल की परेशानीयाँ कौन-सा बड़ा दुःख है ?

नरक की पीडाएँ कैसी है ? :

- जैसे लुहार लोहे को पीटता है जोर-जोर से, वैसे ही परमाधामी वहाँ नरक के जीवों को पीटते हैं ।
- नरक के जीवों को गन्ने की तरह पीसते हैं ।
- मक्की के भुट्टे की तरह धधकतें अंगारों पर नरक के जीवों को पकाते हैं ।
- पपीते (कच्चे) की तरह नरक के जीवों को भी छीलकर उसका कचुंबर बनाते हैं ।
- काकडी की तरह नरक के जीवों के टुकडे-टुकडे करते हैं ।
- जंगलों में हिरण को चारों तरफ बाघ-भेड़ियों से घेर लिया जाता है और नोंच-नोंच कर उसके टुकडे निकाले जाते है, वैसी ही वेदना नरक के जीवों को भी दी जाती है ।

ऐसी ऐसी भयंकर वेदनाएँ वर्तमान में भी असंख्य नारक सह रहे हैं । वो यदि नजर के सामने रहें, तो वर्तमान मानव जीवन का कौन-सा दुःख या वेदना महत्त्व देने जैसा प्रतीत होगा ?

बस, सीताजी के सामने नरक की वेदनाएँ तेरती होगी, इसलिए कर्म के कारण स्वयं को जंगल में तिरस्कृत करके असहाय छोड़नेवाला प्रसंग भी उन्हें साधारण-सा ही प्रतीत हुआ । तो उनके मन को ज्यादा तकलीफ होगी क्या ? इस बात को वो ज्यादा महत्त्व देंगे क्या ? तो फिर सीताजी मन से स्वस्थ रहें, उसमें आश्चर्य नहीं है ।

दूसरी बात यह भी है कि हम काया की तकलीफ और वेदनाओं को बहुत जल्दी मन पर लेकर उसी विषय पर विचार करते रहते हैं । परंतु आत्मा की वेदनाएँ और तकलीफें मन को कभी छु भी नहीं पाती, इसलिए उस पर कभी विचार करते ही नहीं हैं । यही तो सबसे बड़ा कारण है हमारे मन की अस्वस्थता का ।

आत्मा की महाविड़ंबनाओं के सामने संसार की विड़ंबनाओं का कोई महत्त्व ही नहीं है ।

संसार में आत्मा को कौन-कौन-सी विडंबनाएँ झेलनी पड़ती है ? :

- बड़े से बड़ा इन्द्र का अवतार पाने के बाद भी मरना पड़ता है और वहाँ की दिव्य समृद्धियाँ और दिव्य शरीर को भी छोड़ना पड़ता है । यह क्या आत्मा की कम विडंबना है ?

- जैसे-तैसे अवतार में भी जन्म लेना पड़ता है, यह विडंबना कैसी कही जायेगी ?

- आत्मा को राग-द्वेष-काम-क्रोध-लोभ-मान-मद वगैरह मनोभावों मे बहना पड़ता है; यह कितनी कठिन विडंबना है ? वीतराग-भाव के मूल स्वरूपवाली आत्मा और उसे इस जगत के नाशवंत पदार्थों के प्रति राग-द्वेषादि अधम भाव सताते रहें ! यह इसकी महाविडंबना नहीं है तो ओर क्या हैं ?

- आत्मा का मूल स्वरूप अनंतज्ञान और अनंतदर्शन होने के बावजूद संसार-वास के समय उसकी अज्ञानता का पार ही नहीं । दीवार की दूसरी ओर क्या है ? इस बात का भी ज्ञान ही नहीं है ! वैसे ही, खुद के पूर्वजन्म या फिर आगामी भव के दर्शन या स्मरण नहीं है ! इसे आप क्या कहोंगे ? आत्मा की विडंबना ही ना ?

- खास विचार करने जैसी बात यह है कि, अरिहंत भगवान की आत्मा ने भी जिस जिनशासन की आराधना की, बड़े-बड़े सम्राट, राजा-राजकुमारों और सेठ-साहुकारों द्वारा जिस जिनशासन की आराधना की गयी, वही जिनशासन हमें भी मिला है, तो क्या अभी तक इसके कष्टपूर्ण प्रत्येक मार्ग पर हमारी श्रद्धा अतूट नहीं बनेगी ? इसकी आराधना करनी चाहिये; ऐसा नहीं लगा ? श्रद्धा से फफुंदी-कंदमूल-लील (निगोद) इत्यादि के कण-कण में असंख्य जीव तड़पते नहीं दिखेंगे ? श्रद्धा से पानी की हर एक बूंद में असंख्य जीव कांपते नहीं देख पायेंगें ? यह कैसी विडंबना ? बेशक, केवल-दर्शन से तो नहीं, पर उत्कृष्ट श्रद्धा से भी ना दिखें, तो यह भी आत्मा की कैसी विडंबना ?

- इस प्रकार आत्मा के मूल स्वरूप में तो अनंत सुख भरा हुआ है फिर भी... जैसे, कडवे मुँह को मीठा बनाने या महसूस करने के लिए गुड-शक्कर का गुलाम बनना पड़ता है कि, 'गुड-शक्कर ! तू जरा मेरी जीभ पर आ, तो मेरा

मुँह मीठा हो जाए ।' इसी तरह, हर एक इन्द्रियों के मन-पसंद सुख को पाने के लिए गुलामी करनी पड़ती है कि, 'तुम मेरे इन्द्रियों के संपर्क में आओं ना ?' यह भी कोई छोटी विडंबना तो नहीं है ना ?

अनंत सुखों का मालिक जीव तुच्छ विषयों के आगे इस प्रकार गुलामी बताये; यह कितनी बड़ी विडंबना है ?

क्रोडों का खजाना जिसके पास हो, वो मानव किसी गरीब के दर पर बचे-कुचे झुठे रोटी के टुकडों की भीख माँगे, ऐसी दीन-हीन सी हालत संसार में है हमारी आत्मा की भी । यह महाविडंबना आत्मा को चूभती नहीं और काया की सामान्य से सामान्य विडंबना भी चूभती जाती है, इसीलिए वे विडंबनाएँ हमारे मन को बड़ी लगती है और अस्वस्थ-अस्वस्थ बना देती है ।

सीताजी इन विडंबनाओं को नजरों के सामने रखते हो, तो जंगल की काया-विडंबना को क्यों महत्त्व दें ? महत्त्व ही नहीं रहेगा, तो मन भी अस्वस्थ नहीं होगा ।

बस, यही बात है कि आँखों के तारे जैसे लवण-अंकुश पुत्र उनसे पूछते है : 'आपने तो कभी बताया ही नहीं कि हमारे पिता ने आपको बाहर निकाल दिया था ? फिर भी हम तो तैयार है कि उनसे युद्ध करके उन्हें सबक सीखा दे कि 'सीताजी का कोई रक्षक नहीं है, इसलिए उसे यूँ ही देश-निकाल कर दों' तो देखों हम इसे रक्षण करनेवाले हैं, आओं जरा सामने और हमें भी दिखा दो कि अब सीताजी कैसे निकाले जाते है ? माँ ! हम पिता के साथ युद्ध करने जा रहे है, इसलिए तू हमारे सिर पर अपना हाथ रखकर हमें विजयी होने का आशीर्वाद दें ।'

यहाँ सीताजी 'पति ने दगा किया है' ऐसा समझते ही नहीं थे, तो पति को सबक सिखाने का विचार भी क्यों आयेगा ? सीताजी तो स्वस्थता से कहते है :

सीता के अद्‌भुत और उत्तम शब्द :

'पुत्रों ! कभी पिताजी के साथ लड़ना उचित है क्या ? और उस में मेरे आशीर्वाद ? जाओं, यदि उनके दर्शन के लिए जाना हो, तो जाओं और उनके चरणस्पर्श करों, तो मेरे आशीर्वाद जरूर है । आओं, इसके लिए तुम्हारे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दे दूँ ।'

विचार करना कि सीताजी स्वयं को जंगल में छोड़ने वाले पति के प्रति भी हृदय में कितना बहुमान रखते होंगे ! वो पुत्रों को भी कितनी सुंदर विवेकपूर्ण बातें समझा रहे हैं । ऐसा कब संभव होता है ? जब मन एकदम स्वस्थ हो तब ही । समझ लेना; जीवन में संकट की पलों में भी पुत्र-पुत्री को या पुत्र की माता को अवसर के योग्य विवेक सिखाने की कोशिश की है कभी ? या हमें भी कभी अवसर के योग्य विवेक का भान होता है ? इसीलिए कहते है कि,

अवसरोचित विवेक रखने के लिए स्वस्थता चाहिये ।

श्रेणिक राजा को महा अयोग्य पुत्र मिला कोणिक । और महायोग्य पुत्र मिला अभयकुमार । इनमें से योग्य पुत्र अभयकुमार दीक्षा की माँग करते हुए कहता है कि...

'पिताजी ! मैं राज्य स्वीकार करूँ, तो मुझे दीक्षा नहीं मिल पायेगी; वैसे भी भगवान कहते है कि 'जो राज्यश्री वो नरकश्री', तो महावीर प्रभु के परम भक्त आप ही बताईये कि मैं राज्य लेकर नरक जाऊँ; ऐसी इच्छा रखते हो ? या मैं चारित्र ग्रहण करके सद्गति पाकर मोक्ष में जाऊँ; ऐसी इच्छा रखते हो ?'

राजा श्रेणिक ने तुरंत ही विवेक दर्शाते हुए उत्तर दिया : 'नहीं पुत्र ! तू राज्य ले और नरक जाएँ; ऐसा तो मैं कभी नहीं चाहूँगा । मैं तो चाहता हूँ कि तू चारित्र ग्रहण करके मोक्षमार्ग की ओर आगे बढें ।'

बस, इसी समय अभयकुमार ने पिता से चारित्र लेने की अनुमति माँगी और उसकी विनंती का स्वीकार करते हुए, श्रेणिक राजा भी तुरंत ही वरघोडा निकाल कर प्रभु के पास गये ।

वहाँ पहुँचकर प्रभु से बोले : 'भगवान ! मैं आपको 'शिष्य-भिक्षा' देना चाहता हूँ, इसे चारित्र देकर कृपा करें ।'

ये पिता-पुत्र किस दुनियाँ के मानवी थे ?

श्रेणिक का उच्च गणित :

'अब कोणिक के जुलम की आपत्ति आयेगी तो ?' फिर भी श्रेणिक ने यह विवेक पूर्ण विचार किया कि, 'मेरी सुंदर सेवा करने वाला लायक पुत्र अभयकुमार राज्य पाकर दुर्गति में चला जाये; यह भी सही नहीं है, भले ही मेरा जो होगा,

वो होने दो । वैसे भी मेरे कर्मों में जो लिखा है, वही होगा । मेरे स्वार्थ के खातिर इसके आत्महित को क्यों बिगाडूँ ? मैं इसके आत्महित में अंतराय नहीं करूँगा ।' स्वस्थ मन के बिना यह अनमोल विवेक-ज्ञान हो ही नहीं सकता ।

आप अपने नजरों समक्ष देखते ही हो ना कि आज-कल कितने माता-पिता अपने वैरागी बच्चों की दीक्षा में अंतराय करते है, क्योंकि वे स्वार्थ-माया के कारण अस्वस्थ हैं ।

अस्वस्थता अनेक प्रकार के दुःखों और संतापों की कल्पनाओं के कारण है ।

'पुत्र दीक्षा ले लेगा, तो उसके बाद मेरा क्या होगा ? मेरे बुढापे का सहारा कौन ?' पर उन्हें यह पता नहीं है कि तेरा पुण्य नहीं होगा, तो तेरा पुत्र विवाह करने के बाद तुझसे अलग हो जायेगा और तेरे सामने दिखेगा भी नहीं । इसमें कल्पना यह है कि अपना स्वयं का निभाना तो स्वयं के पुण्य पर आधारित है, पर वह पुत्र के आधार पर होगा; ऐसी कल्पना मा-बाप कर रहे है ।

एक ओर कल्पना यह है कि, 'पुत्र बेचारा दीक्षा लेकर दुःखी होगा, इसके बजाय संसार में रहेगा, तो सुखी रहेगा ।' यह भी एक कल्पना ही है, क्योंकि संसार में सिर्फ और सिर्फ शुद्ध सुख किसी ने पाया ही नही है अब तक, तो इसे कैसे मिलेगा ?

जहाँ दुःख, चिंता, संताप की गठरीयाँ भरी पडी है और जब यहाँ पर ही सब कुछ छोड़कर परभव में दुःख के पहाड़ की ओर जाना पड़ेगा, और दुर्गतियों की कैद में गुजारा करना पड़ेगा, तो वहाँ भी कौन-सा सुख पायेगा ? चारित्र से ही सच्चा सुख प्राप्त होता है ।

इस ऊँचे मानवजन्म के बिना चारित्र कहाँ मिलेगा ? और बिना चारित्र जन्मों-जन्म के यह फेरे, यह भव-भव भटकना मिट जाये; कैसे संभव है ? स्वार्थीमाया और मिथ्यात्व की ताकत जहाँ जोर लगाती हो, वहाँ अस्वस्थता ही रहती है और अस्वस्थता रहते स्वयं वैराग्य कैसे पायेगा ? और उस पर आश्रित को भी वैराग्य कैसे पाने देगा ? या चारित्र लेने की बात पर सहमत भी कैसे होगा ?

तब सीताजी की गंभीरता और पुत्रों के विवेक की सीख पर आपको यूँ लगेगा कि :

(१) इस हद तक की जगजाहिर बात पति के द्वारा जंगल में छोड़ देने की बात अपने पुत्रों से भी न कहने की गंभीरता कैसे रख सकते है ? और

(२) पुत्रों को पिता के साथ युद्ध करने नहीं, पर उनके चरण चूमने जाने का विवेक सिखाने की बात भी कैसे हो सकती है ?

इन दोनों शंकाओं का समाधान यह है :

सीताजी की महागंभीरता और विवेक; यह आर्यसंस्कृति और जैनधर्म को हृदय में बसाने का फल है ।

अनार्य संस्कारों में पले-बढें हुए को तो, यह गंभीरता और विवेक की कल्पना भी नहीं हो सकती, तो फिर आचरण में लाने की बात ही कहाँ ? वे तो यही कल्पना करेंगे कि, 'मुझे सब के सामने गलत दंड देने वाले की बात दूसरें स्नेहीजनों के सामने बतानी ही है, तो अपने पुत्रों के सामने तो सहज ही कह देनी चाहिये ।' यहाँ पर गंभीर बनने की बात तो अनार्य संस्कारवालों को अयोग्य ही लगेगी !

महासंताप देने वाले पति के सामने सशक्त और स्वावलंबी पुत्र युद्ध करने की इच्छा रखते हो, तब पुत्रों को पिता से लडने नहीं, मगर चरण चूमने जाने का विवेक सिखाना भी अनार्य संस्कारवालें को अयोग्य लगता है । वे तो मानते हैं कि, 'बिना गलती इस प्रकार की भयंकर सजा देने वाले का चरण क्यों छूना ? अनार्य संस्कारवालों को अयोग्य लगनेवाली यह बात अपने जीवन में भी जाँच करने जैसी है कि हमें भी यह बात अयोग्य लगती है कि नहीं ?'

यहाँ यह भी विचारने योग्य है कि अनार्य और आर्य संस्कृति के बीच कोई फ़र्क है या नहीं ?

मनुष्य और पशु के बीच यदि व्यवहार के फ़र्क है, कल्पना के फ़र्क है, तो क्या आर्य और अनार्य के बीच कोई फ़र्क नहीं होगा ? या फ़र्क हो, तो सिर्फ इतना ही कि, 'आर्य प्रभु का नाम जपते है, प्रभु की भक्ति करते है और अनार्य नहीं करते ।' क्या मात्र यहीं फ़र्क है ? तो क्या हिंसा-झूठ-चोरी-अनीति-दुराचार-वैर-कलह-चुगली-ईर्ष्या आदि अनार्य जैसे आचरते है, वैसे ही आर्य भी आचरण करें ?

महान पुण्य के उदय से आर्यदेश, आर्यकुल और आर्यसंस्कारों को पाया है, तो इस पुण्योदय की कुछ तो क़दर करों, ज़रा तो मूल्यांकन करों ।

अनार्य जो कर रहें हैं, वो मात्र इस भव की खुशहाली और वैभव-समृद्धि के लिए ही कर रहें हैं, क्योंकि उनके पास आत्मा-परलोक और पुण्य-पाप की मान्यता है ही नहीं । जबकि हम आर्यसंस्कारों के हिसाब पर चलते हैं यानि आत्मा-परलोक-पुण्य-पाप वगैरह पर श्रद्धा रखकर उन्हें मानने वालें हैं । इसलिए...

हम आर्य इस जनम की खुशहाली की खातिर परलोक में अपनी आत्मा की घोर बरबादी हो; ऐसे कार्य करने में समझदारी नहीं मानते हैं ।

हम यदि सच्चे आर्य हैं तो, आर्य अर्थात् जनम-जनम से गमन करनेवाली आत्मा को मानने वाले होने चाहिये । यह मानते है, इसलिए इस जनम में ऐसा कोई पाप करके खुशहाल बनने की चाह भी नहीं करेंगे जिससे परलोक में दुर्गति की जेल में कैद होना पड़े ! है ना ? यह अनार्य को शोभास्पद है, किसी आर्य को नहीं ।

आर्य के जीवन में महत्त्व तो मात्र आत्मा-सद्गुणों के शिक्षण पाने का और परलोक को उज्ज्वल बनाने का ही होता है ।

आत्मा को नहीं माननेवालों और सिर्फ देह पर ही समग्रतया ध्यान केन्द्रित करनेवालों का रिश्ता-नाता मात्र देह-हितकर समृद्धि-सन्मान के साथ रहता है । सीताजी आर्य थे और आर्यसंस्कृति की महत्ता को भली-भाँति समझते थे, इसलिए वो आत्महितकर गंभीरता एवं विवेक वगैरह के साथ रिश्ता-नाता बनाये रखें, इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। अरे, आश्चर्य की बात तो यह है कि आत्मा को मानने के बड़े-बड़े दाँवे करने वालें हम गंभीरता और विवेक के बजाय क्षुद्रता और अविवेकादि दोष-दुष्कृत्यों का जीवन जीते है ! इसलिए यह प्रश्न होता है कि,

प्रश्न : सीताजी इतनी ज्यादा गंभीरता और विवेक कैसे रख पाये ?

उत्तर : क्योंकि वे आर्य थे । आर्यत्व को शोभा दे और परलोक को उजागर करें; ऐसी आत्महित की बातों को मुख्यता देने वाले थे, इन्हीं के साथ प्रधान रिश्ता रखनेवाले थे । इसी कारण सीताजी आत्महितकारक गंभीरता और विवेक रख पाये; यह सहज है ।

१०. सत्त्वशील सीताजी

सीताजी के विवाह का प्रसंग :

सीताजी में यह गंभीरता और विवेकादि गुण बाद में आये; ऐसा नहीं है । उनके विवाह के समय भी ये गुण उनमें मौजूद थे । जब स्वयंवर के लिए मंडप रचा गया था, उसमें शर्त यह थी कि, 'देवाधिष्ठित धनुष उठा कर, उसे टेढ़ा करके उस पर पनच चढ़ाकर, जो बाण का टंकार कर सके; सीताजी उसके गले में वरमाला पहनायेगी ।'

सीताजी ने इस शर्त पर स्वीकृति दी; उस का कारण क्या था ? यदि धनुष्य को उठाने में कोई भी सक्षम ना हुआ तो ? या चढाने वाला कोई भी भील जैसा आदमी निकला तो ? तो... सीताजी ने ऐसे स्वयंवर को स्वीकृति कैसे दी ?

- पहली बात तो यह कि गंभीर और विवेकी सीताजी विवाह-निर्णय करने का विषय अपने बड़े-बुझुर्गों का है; यही मानते थे ।
- दूसरी बात यह कि सीताजी यह मानते थे कि जिसमें इतना सत्त्व भी न हो, उससे विवाह करने से क्या लाभ ? और धनुष पर बाण का टंकार करने वाला मानव शायद साधारण भी हो, तो भी क्या हुआ, वो सात्त्विक है, सत्त्वशाली है । ऐसे सत्त्वशाली के साथ विवाह करने में आपत्ति कैसी ?

जीवन सात्त्विक को सौंपा जा सकता है, पर निःसत्त्व को तो कभी नहीं ।

हम अरिहंत की शरण लेते है अर्थात् अपने जीवन की डोर अरिहंत के हाथों में सौंप देते हैं । किसलिए ? बस, इसीलिए कि अरिहंत अनंत सत्त्ववाले हैं । इसी सत्त्व के कारण वे स्वयं वीतरागी बने हैं और केवलज्ञान की सिद्धि हाँसिल की हैं । ऐसे सात्त्विक की शरण हम लेते हैं ।

श्रेणिक भी पहले जैनधर्मी नहीं थे, फिर भी चेलना ने उनसे विवाह किया, उसके पीछे भी श्रेणिक का सत्त्व ही कारण था । बाकी, निःसत्त्व मानव भी सुन्दर होते है, पर उनकी सुन्दरता की क्या कीमत ?

पूर्व की महासतियाँ कठिन से कठिन संयोगों में भी अपने शील का रक्षण कैसे कर सकी ? क्योंकि वे सत्त्वशाली थे !

राजा नल राज्यभ्रष्ट हुए और उनके साथ सती दमयंती को भी जंगल में भटकना पड़ा, तब दमयंती तनीक-सी भी नहीं घबरायी, क्योंकि वे निःसत्त्व नहीं थे, सत्त्वशाली थे, तभी तो जब पति कहते है कि, 'आज मुझे परिस्थिति वश बाहर गाँव-गाँव भटकना पड़ रहा है, पर कोमल शरीर वाले आपके लिए यह मुश्किल है, अतः आप अपने पीहर चली जाओं ।'

तब कोमल देहवाले पर अत्यंत सत्त्वशाली दमयंती ने तुरंत ही पीहर जाने से इन्कार कर दिया और बोले : 'जहाँ वृक्ष होता है, वहीं छाँव होती है, इसलिए में आपके साथ ही भटकूँगी ।'

सत्त्व कैसा कार्य करता है ! नींद में सोते महासती दमयंती को पति नल छोड़कर चले गये और सुबह जब दमयंती की आँख खुली, तो पति को ना देखकर समझ गयी कि, 'मुझे पीहर भेजने के लिए ही वो मुझे यहाँ अकेली छोड़कर चले गये है, अब मुझे शील की रक्षा के लिए किल्लाबंधी करनी होगी । इसलिए उन्होंने चार दृढ़-कठोर नियम तय कर लिये ।

पति से मिलन ना हो, तब तक दमयंती के शीलरक्षा के लिए चार नियम :

(१) छ विगईयों का त्याग ।
(२) गादी (बिस्तर) पर सोना नहीं ।
(३) रंगीन कपड़े पहनना नहीं ।
(४) शृंगार करना नहीं ।

कैसे ले सके ऐसे कठिन नियम ? तो... इसके पीछे कारण है उनका सत्त्व । फिर आगे तो बड़े तापसों के आश्रम के निकट ही एक एकांत गुफा मिल गई, तो वहीं पर्वत की गुफा में शांतिनाथ प्रभु की उपासना करते-करते सात वर्ष बीता दिये !

'यहाँ खाने-पीने को क्या मिलेगा ?' इसकी चिंता नहीं की, क्योंकि सत्त्वशाली थे । इसलिए वहीं ही अखंड शील रखकर प्रभुभक्ति में मग्न बन गये । तब इसका ऐसा प्रभाव पड़ा कि,

दमयंती के शील-समकित का कैसा प्रभाव ! :

एकबार भारी वर्षा होने के कारण पानी का बहाव भी इतना ज्यादा बढ़ गया कि तापसों का आश्रम भी उसमें बह जाए ऐसी परिस्थिति खड़ी हो गयी । उस वक्त महासती ने गुफा से बाहर आकर यह संकल्प किया कि, 'मेरे शील और सम्यक्त्व के प्रभाव से तापसों को इस भयंकर वर्षा और बाढ़ से रक्षण मिले ।' और महासती ने आश्रम के चारों तरफ जमीन पर लकडी से लकीर बना दी ।

बस, फिर महासती के शील और सम्यक्त्व के प्रभाव से मानो जैसे कि आश्रम पर एक बड़ी छत बन गई हो ! आश्रम पर वर्षा बंद हो गई और पानी की बाढ़ आयी थी, वो भी आश्रम के पास से निकल गयी !

तापस यह देखकर हेरान-चकित रह गये कि, 'हम कितना कठोर तप कर रहे है, घर-परिवार भी छोड़ दिये, पर इसका कोई प्रभाव नहीं ? और एक गृहस्थ नारी का यह अद्‌भुत प्रभाव ?'

तब वे दमयंती से पूछते हैं कि, 'यह कैसा जादू किया आपने ? बाढ़ और वर्षा; दोनों आश्रम को छू भी नहीं पाये ?'

दमयंती बोली : 'यह सब जैनधर्म का प्रभाव है । आप तप करते हो; यह उत्तम है, किन्तु इसके मूल में जैनधर्म की श्रद्धा हो, तो वो प्रभावशाली बन जायेगा ।'

तब वे तापस जैनधर्म के स्वरूप के बारे में पूछते हैं । दमयंती से जैनधर्म की पहचान जानकर सब तापस प्रभावित हो जाते हैं ।

दमयंती की यह श्रद्धा कैसी कि, 'मेरे शील और सम्यक्त्व के प्रभाव से आश्रम वर्षा के उपद्रव से बच जाये; यह प्रभाव होना ही चाहिये ।'

अब अपने मन को पूछों कि हम भी बहुत प्रकार की साधनाएँ करते है । जैसे कि,

- हररोज के वीतराग-दर्शन की,
- प्रभुपूजा की,
- नवकार के जाप की,
- विविध प्रकारों के नियमों की,
- पर्वतिथि के दिनों में तप की,
- गुरु-मान्यता की,

ये सभी आराधनाएँ में कौन-सी आराधना ऐसी है कि जिस पर श्रद्धा रखकर हम संकल्प कर सकें कि, 'इस साधना के प्रभाव से अमुक कार्यसिद्धि अवश्य हो।' है ऐसी हिम्मत ? नहीं, क्योंकि ऐसी श्रद्धा ही कहाँ है ?

हम हररोज जिनेश्वर भगवान के दर्शन तो करते है, परंतु कोई दिन का ऐसा दर्शन हमें स्मृतिपथ पर आता है कि जिस दर्शन के बदले में यदि कोई देव प्रगट होकर हमें एक लाख रूपिये भी दें दे, तो भी हम उस दर्शन को बेचने के लिए ना बोल दें ! अथवा तो हमारा हृदय प्रभु के दर्शन में पूर्णतया निमग्न बन गया हो ! निमग्न तो ऐसा कि हृदय और आँखें भीगी-भीगी हो गई हो !

'अहो प्रभु ! आप मुझे मिल गये ? कितनी बड़ी कृपा प्रभु आपकी ! मेरे नाथ ! आप ही मेरे आधार हो ! आप ही मेरा जीवन हो ! आपके सामने तो पूरे विश्व की संपत्ति और सत्ता-सम्मान भी तुच्छ है...' इस प्रकार दर्शन के दौरान हृदय भीगा-भीगा हो गया हो, ऐसे कितने दर्शन ? यदि एक भी नहीं, तो उस दर्शन पर कैसे विश्वास होगा कि, 'इस दर्शन के प्रभाव से अमुक सिद्धि हाँसिल हो !'

साधना करों, तो ऐसी करों कि साधना के मूल्य के सामने स्वर्ग की संपत्ति भी तुच्छ लगे ! साधना में ऐसे मशगूल बन जाओं कि तब जगत की सारी बातें विस्मृत हो जाये !

बहुत नहीं, कोई भी एक साधना ऐसी करों कि जिसमें मन निमग्न बन जाये, हृदय तन्मय हो जाये और उस साधना के सामने पूरे विश्व का वैभव भी तुच्छ लगे !

महासती दमयंती जैसे सत्त्वशाली पूर्वज हमें इसीलिए मिले है कि हम उनसे उन्हीं की जैसी साधना सीख सकें, उनको दृष्टि के समक्ष रखकर उनकी निःस्पृहता-पूर्ण सम्यक्त्व और शील की साधना का अनुकरण कर सकें।

महासती सीताजी में सत्त्व था, इसीलिए ही स्वयंवर में सात्त्विक को ही वरमाला पहनाने का निर्णय किया था, फिर चाहे उसका कुछ भी परिणाम मिले, उसे स्वीकारने के लिए सज्ज थे !

महासती मयणासुंदरी में सत्त्व था, इसीलिए ही वे अपने पिता – राजा के समक्ष भरे दरबार में कर्मसिद्धान्त की बातें कर सकें कि, 'लड़की को अच्छे वर के साथ विवाह करवाकर सुखी बनाने में माता-पिता सिर्फ निमित्त है, हकीकत में लड़की के खुद के शुभ-अशुभ कर्म के अनुसार ही सुख या दुःख मिलते है ।'

जब इस सिद्धान्त को अमल करने का अवसर आया और पिता ने मयणासुंदरी के समक्ष एक कुष्ठरोगी को हाजिर करके बोल दिया : 'ले, सब तेरे कर्म के अनुसार ही होनेवाला है ना ? तो तेरे कर्म ने तेरे लिए इस पति को भेजा है । कर ले इसके साथ विवाह ।'

मयणासुंदरी में सत्त्व था, इसलिए उसने कर्मसिद्धान्त के परिणाम को सहर्ष स्वीकार लिया ! और कुष्ठरोगी श्रीपाल खुद उसको मना कर रहा था, फिर भी मयणा ने उसके हाथ पकड़ लिये और बोली :

'चलों, पिताजी ने मेरे लिए पति के रूप में जिसे भी चुना है, वो मुझे प्रमाण है ।' और कुष्ठरोगी को पति के रूप में स्वीकार कर चली गई !

कितना सत्त्व ! देवलोक की अप्सरा जैसी रूपवती राजपुत्री मयणासुंदरी पिता ने दिए हुए कुष्ठरोगी का भी स्वीकार कर लें ! किसके खातिर ? कर्मसिद्धान्त का आचरण करने द्वारा सत्यार्थ साबित करने के खातिर; यह मयणासुंदरी का महासत्त्व था, उज्जवल सम्यग्दर्शन था ।

जीवन सत्त्व और सम्यक्त्व की सुवास से सुगंधित बनता है ।

वह सुगंध हजारों सालों तक लोगों में फैलाती रहती है । इसीलिए हजारों सालों पूर्व हुए मयणासुंदरी-श्रीपालराजा को आज भी हम याद करते हैं ।

मयणासुंदरी में अक्कल थी या नहीं ? या सारी अक्कल हमें ही मिली है ? मानों कि, आज ऐसी कुछ घटना बनें, तो आप उस कन्या को बुद्धिमान मानोंगे या अक्कलमंद ? यदि हृदय में सिर्फ विषयसुख का ही महत्त्व समझा होगा, तो ऐसी कन्या मूर्ख ही लगेगी ।

जिसे विषयसुख से अधिक महत्त्व सम्यक्त्व का हो, जिनोक्त सिद्धान्त की श्रद्धा और आदर का हो; वो ही मयणासुंदरी जैसी कन्या को बुद्धिमान मानेगा । इसलिए कहो,

महापुरुष की महान जीवनशैली की प्रशंसा करने के लिए भी हृदय विषय-पक्षपात वाला नहीं, गुण के पक्षपात वाला चाहिये ।

बिना अपराध जब चरवाहा प्रभु वीर के कान में खूँटा ठूँसने के लिए आया, तो उसे एक चूटकी में भगा देने की शक्ति होने के बावजूद भी प्रभु महावीर ने उसे स्वीकार लिया ! अरे ! अपने कानों में वो चरवाहा आसानी से खूँटा ठूँस सके, इसलिए प्रभु उसे सहायक बनें ! प्रभु वीर की कैसी अदभुत महान संयम-चर्या !

'प्रभु की चर्या योग्य ही थी, ऐसे प्रसंग पर प्रभु की तरह ही बर्ताव करना चाहिये' यह समझ हमारे हृदय में - मन में कब बसेगी ? कहना ही पड़ेगा कि, जब हमारा हृदय-मन विषयसुख-देहसुख का पक्षपाती नहीं, पर क्षमा-समता-सहिष्णुता वगैरह गुणों का पक्षपाती बनेगा, तब ही ।

अपने खुद को ही पूछों कि मेरा हृदय किसका पक्षपात करता है ? संसार के सुख का या गुण और धर्म का ? मान लिया कि हम सुख की अभीप्सा रखते हैं, मगर हृदय में महत्त्व किसका - सुख का या गुण और धर्म का ?

'सुख मारक है, धर्म और गुण तारक है' ऐसी आवाज हृदय में से निकलती है ? 'सुख कष्ट है, धर्म और गुण ही जीव की शोभा है' क्या हृदय इस बात से सहमत है ?

हृदय में यदि गुण और धर्म का पक्षपात होगा, तो हृदय जरूर सहमत बनेगा । जिस बात का हमें पक्षपात हो, उसी बात की हमें महत्ता दिखती है, उसी बात की हम प्रशंसा करते है, उसी बात की हम दलाली भी करते है । परिस्थिति के आधीन यदि हम उस बात का अमल ना भी कर सके, फिर भी उस बात की ओर ही हमारे हृदय का झुकाव रहता है ।

धर्मात्मा के मन जैसी महत्ता धर्म और गुण की है, वैसी संसारसुख की नहीं है, क्योंकि उसे धर्म और गुण का पक्षपात है । पापात्मा के मन संसारसुख की महत्ता बसी है, इसलिए वो सुख के खातिर धर्म और गुण को गौण बनाता है ।

यद्यपि, कर्माधीन धर्मात्मा संसारसुख का अनुभव करता भी हो, फिर भी उसका तात्पर्यार्थ ऐसा नहीं है कि धर्मात्मा के हृदय का झुकाव सुख की ओर है और धर्मात्मा सुख का दलाल है। क्योंकि एक तत्त्व समझ लों कि, आचरण और पक्षपात; दो अलग है।

मिथ्यात्वी को जिसका उपयोग-जरूरत है, उसका पश्चात्ताप नहीं है। मिथ्यात्वी को आरंभ-परिग्रह वगैरह का उपयोग है, इसलिए उसका अफसोस नहीं है। किन्तु सम्यक्त्वी धर्मात्मा के मन ऐसा नहीं है, उसे संसारसुख का उपयोग है, मगर उसकी अनहद अफसोसी भी है कि, 'मैं कब तक यह पापी संसारसुख का उपयोग करता रहूँगा ?' इसीलिए धर्मात्मा के मन पक्षपात सुख का नहीं, बल्कि धर्म का है।

किसीकी मासखमण की तपस्या पर हृदय कब खुश होगा ? तब ही, जब हृदय में तपस्या पक्षपात का होगा, खान-पान का नहीं। भले ही खुद एक भी उपवास ना कर सके, अरे ! एक एकासन-बियासन भी ना कर सके, फिर भी सूक्ष्मरूप से भी हृदय में यह बात बसी होगी कि, 'खान-पान गलत, अच्छा तो तप ही।' हृदय में महत्ता खाने की नहीं, तप की होगी।

इसी तरह, हृदय में महत्ता सहिष्णुता की बसी हो, किसीको पराजित करने की नहीं, तो ही हृदय को यह सच लगेगा कि, 'महापुरुषों में सामर्थ्य होने के बावजूद भी दुष्टों का सामना नहीं किया, पर सहन कर लिया, यह उचित ही है।'

'**जीवन में साध्य (= सिद्धि का लक्ष्य) सुख नहीं है, धर्म और गुण ही है**' यह हृदय से पुकार होगा। इसीलिए महान आत्मा योग्य मौका मिलने पर सुख को नहीं, धर्म और गुण को ही सिद्ध करने के लिए सज्ज रहते थे, प्रयत्नशील रहते थे।

रोज सुबह उठकर संकल्प कीजिये कि, 'आज मुझे एक नया दिन मिला है, तो आज मेरे लिए मुख्य साध्य धर्म और गुण ही रहेंगे, संसारसुख नहीं। इसलिए आज जब भी मौका मिले कि तुरंत धर्म और गुण की साधना कर लूँगा।' सुबह का यह संकल्प हमें साधना की शक्ति देता है, उत्साह जगाता है, पूरे दिन दौरान 'कहाँ से धर्म की साधना कर लूँ ? कैसे गुण को आत्मसात कर लूँ ?' ऐसी जागृति देता है।

जीवन के हजारों दिन यदि यह संकल्प और जागृति रहे, तो जहाँ भी शक्य होगा, वहाँ वहाँ विचार से, वचन से, बर्ताव से तथा संपत्ति और परिवार से धर्म-गुण की साधना करने की लगन रहेगी, सिर्फ लगन ही नहीं, आचरण-अमल भी होगा । इसमें, सिर्फ संकल्प और साध्य दृढ रहने चाहिये ।

परमात्मा महावीर के संकल्प और साध्य दृढ थे, इसलिए वे गृहस्थावस्था में जब तक घर में रहे, तब भी संसारसुख नहीं, किन्तु वैराग्य-धर्म को प्रज्वलित रखने में लगन और प्रयत्न रखें । और जब संसार छोड़कर अणगार बने, तब भी अहिंसा-संयम-तप की साधना को, कायोत्सर्ग-ध्यान को और दुष्टों के परीषह-उपसर्गों में भी क्षमा-समता वगैरह गुणों को सिद्ध करने में लगन और प्रयत्न रखें ।

जीवन का साध्य निश्चित हो जाये, नजर के सामने वही साध्य रहे, तो सतत धर्म और गुणों की साधना को सिद्ध करने के लगन-प्रयत्न रहेंगे । बिना साध्य का जीवन बीतता है अथवा साध्य के तौर पर पैसे और विषयसुख है, इसलिए विचार-वचन-बर्ताव से शक्य धर्म भी गौण बन जाता है, क्षमा-परोपकार-कृतज्ञता वगैरह अनेक गुण की साधना अपने वश में होती हुई भी नहीं कर पाते है । ऐसा जीवन क्या कहेलायेगा, मानवजीवन या पशुजीवन ?

पशु को विषयसुख ही साध्य है, तो धर्मी मानव को भी वही साध्य ?

धर्मी मानवजीवन तो उसे कहा जायेगा, जिसे धर्म और गुण ही साध्य हो ।

मयणासुंदरी ने यह साध्य दृढ कर लिया था, इसलिए जब मौका मिला कि तुरंत ही सम्यक्त्व और सिद्धान्त की श्रद्धा का अमल कर लिया ! कुष्ठरोगी को भी पति के रूप में स्वीकार कर लिया ! सत्त्व बिना यह संभव नहीं है, इसलिए सत्त्व की साधना करों ।

सीताजी में ऐसा सत्त्व था, इसलिए कठिन स्वयंवर भी मंजूर कर दिया, पर पुण्यशाली थे, तो स्वयंवर में पति के रूप में रामचन्द्रजी मिले !

मनचाहा मिलने पर कर्म की कसौटी भी हो सकती है :

पति के रूप में राम मिल तो गये, पर कर्म की कसौटी भी कैसी आयी ? पति राम को अयोध्या का बड़ा राज्य मिलनेवाला था, इसलिए सीताजी को भी पटरानी के ठाठ-माठ मिलनेवाले थे ।

पर जब पिता दशरथ कैकेयी के वचन से अयोध्या का राज्य भरत को देते हैं और भरत राज्यगद्दी पर बैठने के लिए तैयार नहीं होने पर रामचन्द्रजी वनवास के लिए निकल जाते हैं, तब सीताजी की दशा कैसी ? कर्म की कसौटी आयी !

कहाँ बड़े ठाठ से अनेक राजा-राजकुमारों के समक्ष स्वयंवर में सीताजी ने रामचन्द्रजी के कंठ में वरमाला पहनाने का वक्त ! और अब कहाँ महलों को छोड़कर वनवास जाने का वक्त !

तब, सीताजी को भी ताने मारनेवालें मिले होंगे, तो क्या कहा होगा ? ऐसा ही कुछ - 'लो, बहुत खुशहाल थे राम के साथ विवाह करके, क्या सार निकाला इस शादी से ?' शायद कोई कहनेवाला ना भी मिला होगा, पर सीताजी के मन में लोकनिन्दा का भय तो होगा ही ना ? मानव के मन में ऐसे कई भय सताते रहते है, इसीलिए मन कितना विह्वल रहता है ? तो ऐसी विह्वलता के साथ मानव कैसे स्वस्थतापूर्वक जीवन जी सकेगा ?

परंतु यहाँ तो सीताजी के मन में कोई तकरार, कोई तकलीफ है ही नहीं कि, 'हाय ! हाय ! पति वनवास के लिए जा रहे हैं... ? लोग मेरी हँसी उडायेंगे ?... अरे ! क्या सोचा था और क्या हो गया ?' ऐसे कोई विचार उनके मन में आये ही नहीं, क्योंकि वे समझते थे कि,

संसार में ऐसी परिस्थितियाँ कर्म और भवितव्यता अनुसार बनती ही रहती है, इन पर व्यर्थ खेद क्यों करें ?

हृदय में स्वामी के गौरव से सहनशीलता बढ़ती है :

दूसरी बात यह है कि सीताजी ने स्वामी को सर-आँखों पर बिठाया, इसलिए हृदय में उनके प्रति अत्यधिक मान-सन्मान-गौरव था कि, 'क्या बात है ! मेरे स्वामी लाखों में एक हैं, अनमोल है । वो जो भी करें, वही मेरे लिए प्रमाण । उनके कहें पर ही मुझे अमल करना है । उनके किसी भी कार्य के प्रति लोगों की चाहे कैसी भी प्रतिक्रिया हो, मुझे सुनने की या मन पर लेने की कोई आवश्यकता नहीं । संभव हो, तो मुझे गलत प्रतिक्रिया पर प्रतिकार करना चाहिये । बाकी, ज्यादा कुछ विचारने की आवश्यकता है ही नहीं । लोगों की प्रतिक्रिया मुझे क्यों देखनी चाहिये ?

'क्यों ऐसा सोचना कि, स्वामी ने ऐसा क्यों किया ? वनवास क्यों माँग लिया ? उन्होंने जो किया, वह भली-भाँति जान-समझकर ही किया है, इसलिए उनकी हर बात मेरे सर-आँखों पर !'

सीताजी के मन में रामचन्द्रजी के प्रति यह गौरव हो, तो वे मन में क्यों विचार करेंगे कि, 'परंतु लोग तो ऐसा कह रहे है ना ?' हृदय में जिसके लिए अत्यधिक गौरव हो, तो उसके लिए निकृष्ट विचार मन में कभी नहीं आते, उनकी कमियाँ देखने का मन कभी नहीं होता। इसलिए सीता भी लोगों के बोलने के कारण 'राम ने गलती की है' ऐसा नहीं मानती।

राम ने भी सीता से पूछे बिना ही वनवास माँग लिया, तो प्रश्न उठता है कि,

प्रश्न : सीताजी के मन में ऐसी बात क्यों नहीं आयी कि, 'भले ही स्वामी को लगा और उन्होंने वनवास माँग लिया, पर फिर भी कम से कम मुझे पूछना तो चाहिये था ना ? विवाह करके जीवनसाथी बनाया है, तो क्या इतना भी नहीं पूछना चाहिये क्या ?' इस प्रकार के विचार सीताजी को क्यों नहीं आये ?

उत्तर : इसका कारण स्पष्ट है। जैसे आजकल की नारी अपने पति को जीवनसाथी यानि हिस्सेदार समझती है, वैसे सीताजी नहीं समझते थे, वे तो पति को स्वामी के रूप में और स्वयं को पति की आज्ञाकारी सेविका-चरणों की दासी के रूप में मानते थे। तो एक सेविका होने के कारण अपने पति पर ऐसा हक कैसे जता सकती कि, 'स्वामी को कुछ भी करने से पहले मुझसे पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है ?'

पति-पत्नी दोनों हिस्सेदार नहीं, पर स्वामी-सेवक :

आर्यदेश की जीवनशैली की विशेषता है ! जहाँ पति-पत्नी, पिता-पुत्र, सेठ-नौकर के बीच का संबंध वास्तव में स्वामी-सेवक वाले भावों से भरा होता है। जिससे पति, पिता, सेठ पर स्वामीत्व की जिम्मेदारी रहती, पर वह अभिमान करने के लिए नहीं कि, 'मैं मालिक हूँ,' परन्तु अपने आज्ञाकारी पत्नी-पुत्र-सेवक के रक्षण-पोषण-विकास की जिम्मेदारी हरपल निभाने के लिए।

'मुझे इनका रक्षण-पोषण और विकास का पूर्ण दायित्व निभाना है; यह मेरा कर्तव्य हैं । यह कर्तव्य मैं निभा पाऊँ, तो ही स्वामीपद के योग्य हूँ, अन्यथा नहीं ।' इस प्रकार समझते और व्यवहार करते थे ।

दूसरी ओर, पत्नी-पुत्र-सेवक के सिर पर भी सेवक होने के कर्तव्य निभाने के कारण वे भी उनकी आज्ञा का पालन करते, कुछ उल्टा-सीधा कार्य नहीं कर सकते, यहाँ-वहाँ नहीं भटक सकते और स्वच्छंदता को छोड़कर शिष्टता से जीवन निर्वाह करते । इस सेवक भाव के कारण वो अपने बड़ो का बहुत आदर-सम्मान करते और उत्तम जीवन जीते ।

मर्यादा (आज्ञा) का पालन करना; यह दीनता या लाचारी का सूचक नहीं है, पर बड़े-बुझुर्गों के लिए हृदय से होने वाले विनयभाव को सूचित करता है ।

बुझुर्गों के प्रति इस परतंत्रता के कारण हृदय का मद-अभिमान-स्वच्छंदता-स्वतंत्रता आदि अशुभ भाव तूटते है । ऐसे सुन्दर फल देनेवाले मर्यादा-सभ्यता को निकृष्ट या तुच्छ कैसे गिने जा सकते है ? दोषरूप कैसे समझे जा सकते है ?

जीवन में स्वतंत्रता-स्वच्छंदता अर्थात् स्वयं की इच्छानुसार व्यवहार करना, अपनी मरजी से जीना; यह दोषरूप है । क्योंकि **अनादिकाल से ही आत्मा को आत्महित के विपरीत मार्ग पर चलने की आदत है और यही आदत जीव को उन्मार्ग पर ले जाती है । इससे बचने के लिए जरूरी है बड़े-बुझुर्गों की परतंत्रता ।**

क्योंकि यह उन्मार्ग-गमन स्वतंत्रता और स्वच्छंदता करवाता है । पर यदि हम बड़ों के आधीन रहते है, तो बड़े हमें उन्मार्ग-गमन से बचा लेते है ।

यह बात व्यवहारी रूप से देंखे, तो बालक को स्वतंत्रता मिलें, तो वो क्या करेगा ?

- अच्छे कार्य या गलत कार्य ?
- सत्य ही बोलेगा या स्वयं की स्वार्थ-लालसा के पोषण की खातिर झूठ भी बोलेगा ?
- न्याय-नीतिपूर्ण व्यवहार ही करेगा या फिर जरूरत लगने पर चोरी-अनीति-दगा भी करेगा ?

- मिष्टान्न आदि शरीर की स्वस्थता का ध्यान रखते हुए संतोष से खायेगा या जरूरत से ज्यादा खायेगा ?
- ५-६ वर्ष का बालक पढाई ही करेगा या सिर्फ खेल-कूद में पूरा दिन व्यर्थ गँवा देगा ?
- अपने भाई-बहनों की गलती को बर्दाश्त करेगा या लडाई-झगड़ा करेगा ?

सब उल्टे कार्य ही करेगा, क्योंकि झूठ-चोरी-भुक्खड-खेल-कलह इत्यादि उन्मार्ग पर चलने की ही उसे इच्छा रहती है ।

यहाँ पर यदि बालक माता-पिता के आधीन ना हो, इस परतंत्रता के बदले स्वतंत्र हो, स्वच्छंद हो, तो इस उन्मार्ग से वो बच पायेगा क्या ? नहीं । तो वो बालक बड़ा होकर गुणवान कैसे बनता है ? आपको कहना ही पड़ेगा कि, वो आज माता-पिता या कोई बड़े के आधीन है, परतंत्र है, इसीलिए उनकी मार-डाँट खाकर वो अच्छा इन्सान बनता है ।

पर आजकल के माता-पिता को इस की चिंता ही नहीं है और बालक को भी मनचाहा करने को मिलता है, तो ऐसे बालक को देंखो; वो झूठ बोलना-चोरी करना-अनीति-झगड़ा करना आदि दोषों से भरे होते हैं ।

स्वतंत्रता-स्वच्छंदता अभिशाप है ।

व्यवहार में जैसी दशा बालक की होती है, ऐसी ही दशा आत्महित की दृष्टि से देंखे तो हमारी भी होती है अर्थात् बालक तभी गुणवान बन सकता है, जब वो माता-पिता या बड़े-बुझुर्ग के आधीन हो । यदि बालक स्वतंत्रता-स्वच्छंदता से जीयेगा, तो दोषों से भरा बनता है ।

वैसे ही हम भी यदि बड़ों की मर्यादा रखें, उनकी आज्ञा का पालन करके बड़ों के आधीन रहें, तो अच्छा और आत्महितकारी व्यवहार-वर्तन कर सकते हैं । ऐसा ना करके, स्वतंत्र-स्वच्छंद बन गये, तो मनमर्जी का जीवन जीनेवाले बनते हैं । तो ऐसे जीवन से हम भी दोषपूर्ण और उन्मार्गगामी ही बनेंगे, गुणवान नहीं ।

मानव को धर्म की प्राप्ति कैसे होती है ? संत पुरुषों या सद्गुरु की आज्ञा में रहकर उनकी हितशिक्षा को मानता है, तो ही धर्म प्राप्त कर पाता है । 'नहीं, मैं

किसी का नहीं सुननेवाला, किसी की गुलामी नहीं करनेवाला, संत या सद्गुरु की आज्ञा नहीं माननेवाला, मुझे जो ठीक लगेगा, वो ही करूँगा' ऐसा स्वच्छंदी-आपमति क्या धर्म पायेगा ?

अरे, गुरु-आज्ञा में रहकर एकबार धर्म प्राप्त कर भी लिया, बाद में गुर्वाधीनता को छोड़कर स्वतंत्र बन जाये, तो क्या वो धर्म को आत्मसात् कर पायेगा ? धर्म में आगे बढ सकेगा ? नहीं । 'मुझे गुरु की क्या आवश्यकता है' यह अहंकार उसे आगे बढ़ने ही नहीं देगा ।

वीतराग बनने तक गुरु की आधीनता चाहिये ।

बड़े गणधर गौतम स्वामीजी कैसे इतने उच्च बन सके ? तो इसका कारण है महावीर प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पित थे । पूरी तरह उनके आधीन रहकर जीवन जीया, इसलिए तो महायशस्वी बने, उच्च पदवियाँ और लब्धियों के स्वामी बनें । पराधीनता में जीवन जीने की मजा मानी, इसलिए वे आगे बढ़ते गये । मन में उस पराधीनता की मजा कुछ ओर ही थी, इसी कारण प्रभु वीर के मोक्ष जाने पर उन्होंने बहुत कल्पांत किया : 'प्रभु ! आपके बिना मेरा क्या होगा ? कौन मुझे 'गौतम ! गौतम !' कहकर पुकारेगा ? हितमार्ग कौन दिखलायेगा ?' पराधीनता-पराश्रितता ना होती, और स्वतंत्रता ही पसंद होती, तो इतना कल्पांत भी क्यों करते ? जबकि, प्रभु के मोक्ष जाते ही वे स्वतंत्र थे, किसी को कुछ भी पूछने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, तो क्यों अंदर से खुश नहीं होते ? पर नहीं...

स्वतंत्रता-स्वच्छंदता को तो जंगली पशुजीवन की पहचान मानते थे और मानव जीवन की पहचान परतंत्रता-पराश्रितता में मानते थे ।

यह विचार था, इसीलिए गौतम महाराजा वीर प्रभु का वियोग होने पर स्वयं की पराधीनता व पराश्रितता को खो देने के कारण कल्पांत करते हैं । अरे, प्रभु के पास से मात्र तीन पदों को पाकर समंदर जैसे द्वादशांगी-आगमों की रचना की, फिर भी आगम के प्रारंभ में यही कहा कि, 'प्रभु से मैंने ऐसा सुना है ।' यह कहकर प्रभु के प्रति अपनी आधीनता-आश्रितता दिखाई ।

'धर्मबिन्दु' शास्त्र में लिखा है : 'बड़े-बुझुर्गों की आधीनता में, उनकी निश्रा में जीवन जीना चाहिये ।' माता-पिता का निधन हो जाये, तो जाति में, ग्राम में

किसी अच्छे पढे-लिखे अनुभवी गुणवान बुझुर्ग हो, तो उनकी निश्रा लेनी चाहिये । उनकी सलाह, मार्गदर्शन, सूचना लेकर जीवन जीना चाहिये । अवसर-अवसर पर सलाह लेनी चाहिये, ताकी उनके मार्गदर्शन से हम उन्मार्ग (गलत राह) पर जाने से बचें और हमारी भूल होने पर हमें रोकें; ऐसे बड़ों का हाथ और आशीर्वाद हमारा सिर पर सदैव हो; ऐसा जीवन जीना चाहिये । यह गुण है, प्रारंभिक धर्म है ।

सीताजी यह समझते थे, इसीलिए तो स्वयं को पति के आश्रित मानते थे, पति के आधीन समझते थे, पति की सेविका मानते थे, पर पति की जीवनसंगिनी या हिस्सेदार नहीं । तो फिर अपने पति स्वामी रामचन्द्रजी अपने पिता दशरथ से वनवास माँग ले, वहाँ कोई प्रश्न करने का सवाल ही कहाँ रहता है कि, 'मुझे पूछे बिना आपने वनवास क्यों माँग लिया ?' स्वयं को तो उनके आधीन समझते थे, इसीलिए 'स्वामी कुछ भी ना पूछे, पर स्वयं स्वामी को बिना पूछे कोई कार्य नहीं करना' ऐसी समझ रखते थे । यह उनकी पराश्रितता की विशेषता ही थी ।

पराश्रित जीवन जीने की मजा कुछ ओर ही है ।

११. वनवास : कर्तव्यपालन

सीताजी की ओर भी विशेषताएँ देखो :

रामचन्द्रजी पिताजी से वनवास की माँग करने के बाद वन में जाते समय सीताजी से पूछने या बताने नहीं जाते, पर सीधा माँ के पास पहुँचते हैं उन्हें बताने के लिए और तभी माता सीता को अपने पास रहने को कहती है, इस बात पर रामचन्द्रजी भी समर्थन करते हुए सीताजी से कहते हैं : 'यही ठीक है कि आप माताजी के पास रहकर उनकी सेवा करें ।'

सीताजी अपनी सासुमाँ से कहते हैं : 'पति जंगल में रहकर कष्ट पूर्ण जीवन बीताते हो, तब मैं महलों में आराम से सुखपूर्वक जीवन कैसे जी सकूँ ? इन्हें वनवास, तो क्या मुझे महेलवास ? मुझे भी उनके साथ वनवास ही सहना चाहिये । इसलिए इनकी तरह मुझे भी वनवास की आज्ञा और आशीर्वाद देने की कृपा करें ।' वह समझती हैं :

'स्वामी को कष्ट और स्वयं को खुशियाँ' तो मैं सेविका कैसी ?

सीताजी की यशोगाथा गानी है ? तो उनके जीवन से कई अद्‌भुत गुणमय विशेषताएँ गाने को मिलती है, मात्र सूक्ष्मता और निपुणता से चुन-चुन कर निकालनी चाहिये ।

यहीं देख लों, सीताजी इस प्रकार से पति के साथ स्वेच्छा से वनवास तो चले गये, बेशक ! पतिव्रता धर्म को निभाने के लिए ही गये, पर क्या उन्हें कभी यह ताना मारने का मन नहीं हुआ कि, 'देखों ! आपके साथ विवाह करके आज मुझे ये दिन गुजारने पड़ते है !' पर नहीं, यह बात कहना तो दूर, कभी मन में ऐसे ताना मारने के विचार भी नहीं आये । हँसी में भी कभी ऐसी बात नहीं सुनाई !

वनवास में पति को कभी ताने मारने का मन क्यों नहीं हुआ ? :

क्योंकि वनवास की कठिन परिस्थिति के दौरान भी कभी भी उनके मन में यह अफसोस या दुःख हुआ ही नहीं कि, 'कहाँ महलों की सुख-सुविधा और कहाँ यह कष्ट भरा वनवास ?' यदि मन में कोई दुःख या अफसोस होता, तो मन में हलचल तो रहती ही, फिर भले ही रोज ताने ना भी मारे, पर कभी तो ताने सुनाने का मन होता ही । किन्तु मन में दुःख ही नहीं है, अफसोस ही नहीं है, मन तो सदैव खुश रहता है कि, 'सब अच्छा ही है' तो कभी-भी ताने मारने की स्थिति आती ही कैसे ? जैसा हृदय में वैसा ही मुख पर ! हृदय में कभी वनवास का दुःख था ही नहीं, इसीलिए होठों पर भी यह दुःख-दर्दभरें शब्द आते ही कैसे ? अब आपके मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा कि,

प्रश्न : महलों में रहनेवाली सीताजी को वनवास की इतनी बड़ी कठिन और कष्टमय जिंदगी जीते मन में जरा भी दुःख या अफसोस नहीं हुआ ? कभी मन में कड़वाहट नहीं आयी ?

उत्तर : नहीं, कभी भी नहीं ! क्योंकि सीताजी वनवास को एक कर्तव्य समझते है । यही सोचा कि, 'पति को वनवास, तो मेरा कर्तव्य भी यही है कि उनके साथ वन में रहूँ ।' **कर्तव्य निभाना ही मानव जीवन की सबसे बड़ी शोभा है । इसीलिए इस कर्तव्य को निभाते समय आने वाले कष्टों की कुछ कीमत ही नहीं ।**

जीवन में महान वस्तु हैं : कर्तव्य का पालन । कर्तव्यों को नजरअंदाज करके, कष्टों से भागकर मात्र सुखशीलता रखनी; इसमें महानता कैसी ? यह तो तुच्छ है ।

कर्तव्य पालन ही महान है, यह समझ कर मन को सदैव स्वस्थ रखा हो, तो फिर चाहे कितने भी कष्ट क्यों ना हो, मन में कड़वाहट आने का प्रश्न ही नहीं उठता । क्योंकि वहाँ कर्तव्य पालन का आनंद है ।

जिसके हृदय में पशु की तरह विषयसुख का आनंद ही बसा हो, तो उसका हृदय कर्तव्य पालन के आनंद को कभी नहीं समझ पायेगा ।

कर्तव्य पालन से आनंद के उदाहरण :

- ज्येष्ठ महीने की भीषण गर्मी के दौरान भी रसोई घर में अपना कर्तव्य समझकर काम करनेवाली गृहिणी को रसोई बनाते समय भारी गर्मी के कष्ट भी कभी नहीं दिखते, उसे तो मात्र रसोई बनाने के कर्तव्य निभाने का ही आनंद होता है ।
- नौबत आने पर अपने कर्तव्य को ही निभानेवाला क्षत्रिय योद्धा युद्ध के कष्ट की कभी चिंता करता है ? नहीं, उसे तो 'युद्ध' का कर्तव्य निभाने की खुशी होती है ।
- कर्तव्य पालन को मुख्य समझने वाला नौकर कभी नौकरी के कष्टों पर शोक करता है ? वो तो समझता है कि, 'जीवन में कष्ट ना हो; यह कोई बड़ी बात नहीं है, मगर कर्तव्य निभाये जाये; यही बड़ी बात है ।' इसीलिए बड़े-बड़े कष्टों को भी नजरअंदाज करके सेठ की नौकरी के कार्य करने के कर्तव्य-पालन का उसे अत्यधिक आनंद रहता है ।

सीताजी भी इसी प्रकार पति के साथ इस वनवास को कर्तव्य पालन का महान अवसर समझते है और इस कर्तव्य पालन से खुश है, तो उन्हें वनवास के दुःख कैसे चूभे ?

बारह-बारह वर्षों तक वन में रहें, पर एक दिन भी मन में दुःख या कड़वाहट चूभा नहीं हो, तो फिर ताने मारने की बात ही कैसे आयेगी ? इससे वर्तमानकाल के बहनों को बहुत-बहुत सिखने जैसा है ।

जीवन जीते समय कष्ट आते ही है, तब यह देखों कि इसके सामने कोई महत्त्वपूर्ण सिद्धि-साधना है या नहीं ?

जैसे, यहाँ सीताजी को वनवास रूपी कष्ट आये, पर उसके सामने उन्होंने पतिव्रता-धर्म को पालने की साधना देखी, इस महान साधना की सिद्धि के खातिर उन्हें जितने भी कष्ट आये, उसका दुःख नहीं, पर आनंद ही था । वैसे ही, हमें भी वर्तमानकाल में चाहे कितने भी कष्ट आये, पर यदि उनके सामने कर्तव्यपालन या कोई धर्म-साधना का लक्ष्य नजर के समक्ष रहे, तो उसका ही महाआनंद बना रहेगा ।

दुःख की परिस्थिति में भी सुखी होने की यही कुंजी है कि, अपनी धर्मसाधना को याद करके उसकी रक्षा का आनंद मनाईये। ऐसी परिस्थिति में धर्म की भी परीक्षा होती है।

अपने धर्म की परीक्षा इस प्रकार होती है कि, इन कष्टपूर्ण प्रसंगों के दौरान हम अपने धर्म का कितनी बार स्मरण करते हैं ? और उसका कितना आनंद मनाते हैं ?

उ.दा. : पैसों के नुकसान का दुःख आया, तो जल्दी से मन में यह सोच आनी चाहिये कि जैसे सीताजी को वनवास के कष्ट आयें, तो उन्होंने सोचा कि, 'इसमें मुझे पतिव्रता-धर्म निभाने का अमूल्य मौका मिला है, तो फिर ये कष्ट या दुःख को क्यों महत्त्व दूँ ?'

उसी तरह, पैसों का नुकसान होने पर भी मुझे जिनेश्वर भगवान के शासन की आराधना करने का मौका मिलता है और कर्मविपाक समझने वाले श्रद्धालु श्रावक का 'स्थितप्रज्ञता' धर्म की आराधना का अवसर मिलता है, तो इस पैसे खोने के कष्ट या दुःख को क्यों महत्त्व दूँ ?

जैसे आजकाल की सामान्य स्त्रियाँ ऐसे कष्ट पर रोने-धोने लग जाती है और उसी कारण पति पर दुर्भाव करती है, उसी तरह यदि सीताजी भी करते, तो उनमें उत्साहपूर्वक पतिव्रता-धर्म का पालन कहाँ रहा ?

जैसे सामान्य गृहस्थ धननाश पर रोने बैठते हैं, शोक करने लगते हैं, उनकी धर्मश्रद्धा भी विचलित हो जाती हैं, उसी तरह यदि मैं भी रोने बैठूँ, तो मुझ में 'स्थितप्रज्ञ श्रावक' का धर्म कहाँ रहा ?

१२. स्थितप्रज्ञता

'स्थितप्रज्ञा' – 'प्रज्ञा' यानि सुनिश्चित शुद्ध बुद्धि, 'स्थित' यानि स्थिर । किसमें स्थिर ? कोई खाने-पीने की चीज में या फिर कोई संगीत या रंग-विलास या कोई मुलायम स्पर्श में नहीं, कोई व्यापार की आय में नहीं; क्योंकि बुद्धि तो एक संज्ञा है, प्रज्ञा नहीं । हमें तो स्थिरप्रज्ञा चाहिये, मतलब कि स्थिरबुद्धि कोई क्षमादि गुण या दानादि धर्म की चाहिये या फिर देवदर्शनादि जिनभक्ति की स्थिरबुद्धि या साधुसेवा-गुरुसेवा की या गुरुबहुमान की स्थिरबुद्धि चाहिये !

उदा., क्षमा की स्थिरबुद्धि मतलब, मन में तय किया कि, 'मुझे परिवार के सदस्य के साथ गुस्सा नहीं करना है' चाहे किसीकी भी गलती हो, फिर भी मैं खामोश रहूँगा । योग्य समय पर शांति से समझाऊँगा कि 'ऐसा नहीं करना चाहिये, फिर भी यदि वो अपनी भूल को समझने की बजाय तर्क-दलीलें करेगा, तो भी में समझूँगा कि, 'जैसे जिसके कर्म ।' यह बेचारा भी वैसे ही किसी कर्मरोग से पीडित है, इसलिए अपनी गलती को भी समझ नहीं पा रहा है; यह तो करुणा (दया) के पात्र है, उपेक्षापात्र है ।' ऐसा सोच के मन को मना लूँगा, लेकिन गुस्सा नहीं करूँगा ।'

ऐसा तय किया और बाद में कहीं भी किसीने भी गलती की, किसी ने हमारा नुकसान किया, वहाँ भी गुस्सा नहीं करना है ! सामनेवाला गलती करके भी हमसे गुस्सा करे तो, 'चोर कोटवाल को डाँटे' ऐसी परिस्थिति में भी गुस्सा नहीं, क्षमा ही रखनी है । इसको क्षमा की 'स्थिरप्रज्ञा' कहते है, यहाँ पर ही हम 'स्थितप्रज्ञ' कहलाते है ।

सुलसा की स्थितप्रज्ञता :

देखिये, सुलसा श्राविका धर्म में स्थितप्रज्ञ थी, तो देव उसके धर्मसत्त्व की,

धर्म में स्थितप्रज्ञता की कसोटी करने हेतु साधु के वेश में लक्षपाक तेल वहोरने के लिए उसके घर आया ।

सुलसा ने आवकार दिया : 'धन्य भाग्य ! मुझे ऐसे सुपात्रदान और बीमार साधु की भक्ति का लाभ मिल रहा है !' फिर दासी के पास अलमारी से तेल की शीशी मँगवाई ।

वहाँ पर देव ने अदृश्य रूप से शीशी को दासी के हाथों से जमीं पर गिरा दी । इसी तरह दूसरी शीशी और तीसरी शीशी को भी गिरा दी ! लेकिन एकबार भी सुलसा ने दासी के उपर गुस्सा नहीं किया । शीशी तीन ही थी, तीनों तूट गई, उससे न तो वो दान दे पाई, न तो अपने वपराश में ले सकी, फिर भी दासी के उपर न कोई गुस्सा, न कोई झुँझलाहट । क्योंकि सुलसा की क्षमा की प्रज्ञा स्थिर थी, प्रज्ञा को स्थिर रखने का उनके पास सत्त्व था ।

इसलिए तो इन्द्र ने देवसभा में उसके धर्मसत्त्व के गुण गाये थे कि, 'पृथ्वीलोक में सुलसा को धर्मसत्त्व से विचलित करने में कोई बड़ा देव भी समर्थ नहीं है ।' और, इन्द्र की ऐसी वाणी सुनकर एक देव सुलसा की कसोटी करने के लिए यहाँ आया और ऐसा प्रपंच किया ।

इस प्रपंच में तीन-तीन शीशियाँ तूट जाने के बावजूद भी दासी के उपर सुलसा की क्षमा का सत्त्व देखकर देव सुलसा के उपर फ़िदा हो गया ! और वरदान दिया कि, 'सुलसा ! मैं आपके लिए क्या करूँ ? आप जो चाहे मैं देने के लिए तैयार हूँ ।'

सुलसा की ऐसी स्थितप्रज्ञता थी कि, 'चाहे दासी के हाथों कितना भी नुकसान हुआ और दासी ने धर्म में अंतराय किया, फिर भी दासी के प्रति लेशमात्र द्वेष नहीं करना, नहीं ही करना ।'

दमदंत मुनि की स्थितप्रज्ञता :

दमदंत नाम के मुनि हस्तिनापुर नगर के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान में मग्न थे । कौरवों नगर में से बाहर निकलें और मुनि की मज़ाक की, फिर भी शक्तिवंत मुनि ने कौरवों के सामने अभिमान न दिखाया । मुनि की निरहंकार की प्रज्ञा स्थिर थी, इसलिए विकट परिस्थिति में भी मुनि अपनी 'निरहंकार प्रज्ञा' से विचलित नहीं हुये ।

कौरवों ने मुनि की चारों ओर ईंट रखकर उनको ढँक दिया ! फिर भी न तो मुनि ने अभिमान किया, न गुस्सा ।

बाद में पांडव आये, उनको पता चला और उन्होंने ईंटे दूर करके महात्मा की क्षमा माँगकर उनके गुणगान गाये । यहाँ पर भी महात्मा को गर्व नहीं हुआ !

क्यों ? महात्मा स्थितप्रज्ञ थे । दीक्षा लेकर निरभिमानी-नम्र-स्वस्थ रहने का निश्चय किया था, उसके पालन में दृढ़ थे । उनकी नम्रता-निरहंकारी प्रज्ञा कठिन से कठिन उपसर्ग में भी स्थिर थी और स्वस्थ-समभाव में रहने की नेक भी कष्टनाश के समय पर भी स्थिर थी । वे स्थितप्रज्ञ थे ।

शालिभद्र मुनि और धन्नाजी मुनि तप में स्थितप्रज्ञ थे । चारित्र अंगीकार करने के बाद दोनों तप करते गये, यहाँ तक कि शरीर के हाड-माँस सूखने लगे, शरीर की लालिमा खत्म होने लगी, शरीर की शक्ति नष्ट होने लगी, फिर भी उन्होंने तपस्या छोड़ तो न दी, बल्कि मासक्षमण पर्यंत तपस्या करते रहें ! शरीर एक हड्डी का पिंजर जैसा और इतना श्याम हो गया कि शालिभद्रजी अपने घरआँगन में गोचरी के लिए पधारे, तो उन्हें कोई पहचान भी न सके ! इसीलिए किसीने बुलाया तक नहीं ! **शरीर कैसा बेहाल हुआ होगा कि कोई पहचान न सका !**

ऐसा शरीर क्यों किया ? क्योंकि तप की स्थिरप्रज्ञा वाले यानि तप में स्थितप्रज्ञ थे, इसलिए अच्छा-सा शरीर कृश हो जाये, फिर भी तपस्या छोड़ने की बात नहीं, ऐसा पक्का निर्धार था ! और कहाँ तक ? तो अंतिम अनशन करने तक !

भगवान के वचनानुसार जब अपनी माता के हाथों से गोचरी न मिली, बल्कि किसी ओर औरत ने भिक्षा दी, तब शालिभद्र मुनि प्रभु के पास आकर पूछते है ।

प्रभुजी पूर्वभव बताते हुए कहते हैं : 'ये अहीरिन स्त्री तुम्हारी पूर्वभव की माता थी, तुम सुपात्रदान-धर्म करके इस भव में शालिभद्र बने, और वो बेचारी उसी भव की मोह-माया में फँसी हुई है !'

प्रभु के मुख से धर्म की महिमा समझकर तप में स्थितप्रज्ञ शालिभद्र-धन्नाजी मुनि अंतिम अनशन करने हेतु मासक्षमण का पारणा करके प्रभु के पास आकर प्रभुजी से विनती करते हैं :

'हे भगवन् ! यह क्षीण हो चुके देह का कोई भरोसा नहीं है कि कब गिर जाये ! इसलिए इस शरीर का आखरी सद्उपयोग करने के लिए आजीवन अनशन की अनुमति दीजिये ।'

प्रभुजीने आज्ञा दी कि, **'जहासुहं देवाणुप्पिया । मा पडिबंधं कुणह'** अर्थात् 'हे देवानुप्रिय ! आपको जो उचित लगे, वह कीजिये । कहीं भी ममता न रखें और देर न करें ।'

बस, वैभारगिरि के ऊपर साला-बहनोइ मुनि ने जीवनभर का अंतिम 'पादपोगमन' अनशन स्वीकार किया ! और पर्वत की एक शिला पर मृत्यु तक एक स्थिर आसन में लेट गयें ! कैसी स्थितप्रज्ञता !

इन सबके सामने एक नजर अपनी ओर कीजिये कि हमें एक पोरिसि की स्थितप्रज्ञता हैं ? पर्वतिथि के दिन तप करेंगे ही; ऐसी स्थितप्रज्ञता हैं ? 'तेरा तुजको अर्पण' प्रभुजी की भक्ति में निश्चित द्रव्य तो रखेंगे, ऐसी स्थितप्रज्ञता यानी स्थिर बुद्धि हैं ? हर दिन कुछ-ना-कुछ साधुसेवा और साधर्मिक भक्ति करूँगा ही; ऐसा स्थिर नियम हैं ?'

सोचिये कि पिछली रात या प्रातःकाल में हमने भावना की हो कि, 'मेरे जीवन में से कुछ दोष जैसे हास्य-मज़ाक, जूठ बोलना, परस्त्री, सिनेमा, नोवेल पढ़ना, बाजारु या अभक्ष्य खाना, ज्यादा क्रोध या अभिमान, आत्मश्लाधा; ऐसे दोष को अब मेरे जीवन में से निकाल कर ही रहूँगा' ऐसी भावना करने के बाद इसमें स्थितप्रज्ञा-स्थिरबुद्धि रहती है ? इसका अवश्य पालन होता है ? या फिर भावना सिर्फ मन की मन में ही रह जाये और जीवन में से दोषों को दूर करने में हम वैसे ही प्रमादी ? दैनिक कर्तव्य पूर्ण करने में बेपरवाह ? तो क्या वे दोष ऐसे ही अपने जीवन में चलते ही रहेंगे ? और दैनिक कर्तव्य में ऐसे ही हम बेफ़िक्र ही रहेंगे ?

कहाँ कहाँ स्थितप्रज्ञता है ? यह जाँच करने जैसा है । अति मूल्यवान जीवन तो जल के बहाव की तरह बह रहा है और यह दोष-त्याग और कर्तव्य पालन की महान साधनाएँ अपने वश में होने पर भी हम स्थितप्रज्ञता से उसका पालन गवाँ देते है । लेकिन अच्छी तरह से इतना ध्यान में रखने जैसा है कि,

बीता हुआ समय वापस नहीं आता है । शास्त्र कहते हैं कि :

'घोरा मुहूत्ता, अबलं सरीरं । नो हु विणंमति राइओ, णो पुणरवि जीवियं ।।'

मुहूर्त-समय क़ातिल है । शरीर दुर्बल है । बीती हुई रात्रि वापस नहीं आती, आयुष्य भी बीत जाने के बाद वापस नहीं आता ।

घोरा मुहूत्ता :

मुहूर्त यानि समय, समय ऐसा भयानक है कि,

(१) समय जीव को अशुभ प्रवृत्ति और अशुभ अध्यवसाय में ऐसा मग्न बना देता है कि जीव को आनेवाले समय के अनर्थ का विचार तक नहीं रहता है, और

(२) जो एक समय भी बीत गया है, वो वापस नहीं आता है, तो फिर घड़ी, प्रहर, दिन या साल वापस आने की बात कहाँ ? इसमें भी, मानव-जीवन में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है और मोक्ष के लिए एकमात्र कारण संयमजीवन भी सिर्फ मानवभव में ही पा सकते है; ऐसे अमूल्य मानव-जीवन के समय, यदि वापस मिलनेवाले नहीं ही हैं, तो असंयम, अशुभ प्रवृत्ति और अशुभ अध्यवसायों में बीते हुए वे समय कितने कातिल-घातक होंगे ? (अर्थात् उनके परिणाम कितने कातिल होंगे ?)

चक्रवर्ती तो दोनों ही थे, प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराजा और अंतिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त । लेकिन भरत का समय ऐसा बीता कि वे अंत में केवलज्ञान की प्राप्ति कर के, केवली भरत महर्षि बनके इस पृथ्वी पर विचरकर मोक्ष में गये । भवपार कर दिया ! संसार की जन्म-मरण की सभी मुश्किलों से सदा के लिए मुक्त हो गये ! जबकि ब्रह्मदत्त के समय ऐसे बीते कि वो बेचारा सातवीं नरक में चला गया !

कल्पना करों कि ब्रह्मदत्त को अंतिम समय में धर्म याद आया होता और वो सोचते कि 'मैंने गलती की और सिर्फ पाप में ही डूबा रहा; तो चलों, अब बीते समय को - जिंदगी को वापस लाकर ज्यादा से ज्यादा धर्मसाधना कर लूँ ।' तो भी क्या वो छः खंड का साम्राज्य देकर भी अपना बीता हुआ समय वापस ला सकेगा ? नहीं, बिलकुल नहीं, हजारों, लाखों, क्रोडों समय तो दूर की बात, एक समय भी वापस नहीं ला सकेगा ।

इसलिए समय बीत जाये, उससे पहले समय का सदुपयोग करना चाहते हो तो कर लों, वरना जो समय बीत गया वो सदा के लिए चला गया, वापस नहीं ही आयेगा ।

प्रत्येक समय जब आता है, तो मानों कि वह कहता है : 'अभी ही धर्म-आराधना कर लों, अच्छी साधना कर लों, वरना में तो यूँ चला, बाद में मेरी वापसी की उम्मीद मत रखना ।'

अबलं सरीरं :

'घोरा मुहूत्ता' समय क़ातिल है । इस तरह 'अबलं सरीरं' यानि शरीर बलहीन है । ऐसे शरीर के भरोसे रहेंगे कि, 'देखेंगे, आगे साधना कर लेगें ।' तो समज लो कि ये बलहीन शरीर कब शांत हो जायेगा, यह पता नहीं । क्योंकि जगत में यकायक बनती घटनाओं में इस शरीर को कब धक्का लग जाये ? पता नहीं ! और धक्का लगते ही यह सशक्त शरीर लक़वा, केन्सर आदि व्याधिग्रस्त बन जायेगा । या धर्म आराधना के लिए बिलकुल नाकामियाब-निष्क्रिय बन जायेगा कि किसी भी प्रकार की साधना ही नहीं हो पायेगी !

इसलिए जो समय खतम, वो खतम ही हो गया और शरीर बलहीन होकर कभी भी अशक्त-निष्क्रिय और शांत हो जाने की स्थिति में है, तो वर्तमान समय में शरीर से जो साधना कर ली, वही सत्य ! भविष्य की कल्पनाएँ सब मिथ्या ! इसलिए वर्तमान में जो भी शक्ति है :

- तप के लिए तन की,
- शुभ भाव-भावना के लिए मन की,
- त्याग-व्रत नियम के लिए आत्मा की,
- जिनगुणगान-धर्मोपदेश-धर्मसलाह-सूत्ररटण के लिए वचन की,
- दान के लिए धन की,

आदि जो भी शक्ति है, उससे साधना कर लों ।

दो महान साधना है :

(१) दोष-त्याग की और
(२) कर्तव्य-सुकृत के आचरण की,

'घोरा मुहूत्ता अबलं सरीरं' यह बारबार याद रखते हुए वर्तमान समय में ही साधना कर लेनी चाहिये। दोष-पाप छोड़ने है, तो कल की मुद्दत नहीं ! आज ही इसका त्याग करना शक्य हो, तो नियम-अभिग्रह करके त्याग कर लेना चाहिये। इस तरह यदि कर्तव्य निभाने है, सुकृत करने है, तो कल की बात ही झूठी। **आज और अभी ही शुरू कर देने चाहिये।**

रात की फुरसद में यह दोनों प्रकार की साधना के निर्धार कर लेने चाहिये कि, 'अब मुझे इतने-इतने दोष या पाप के सेवन नहीं करने है, और मुझे इतना दान, जिनभक्ति, शील, व्रत, नियम, तप, साधुसेवा, सूत्र-अध्ययन आदि के आचरण करने है।' ऐसी भावना रात की शांति के समय में या फिर सुबह जल्दी उठकर करनी चाहिये। बाद में इस भावना में - निर्धार में स्थितप्रज्ञ-स्थिर बुद्धि बनना चाहिये; मतलब कि एकबार निर्धार किया, तो कर ही लिया, अब इसमें कोई बदलाव नहीं, निर्धार अनुसार आराधना करनी ही करनी है। ऐसी स्थितप्रज्ञता का कितना महत्त्व है ? वह देखिये :

राम की स्थितप्रज्ञता :

रामचन्द्रजी ने देखा कि, 'पिताजी ने कैकेयी को दिये हुये वादे के मुताबित भरत को राज्य तो दिया, लेकिन भरत वह राज्य लेने को तैयार नहीं है। वो अगर राज्य नहीं लेगा, तो पिताजी कैकेयी को दिया हुआ वचन का पालन नहीं कर पायेंगे। यदि मैं वनवास ले लूँ, तो भरत को राज्य संभालना ही पड़ेगा।' इसलिए उन्होंने वनवास माँग लिया और वनवास के लिए निकल गये।

फिर भी भरत राज्य स्वीकारने को तैयार नहीं थे, इसलिए कैकेयी भयभीत हो गई कि, 'अब क्या होगा ? एक ओर भरत राज्य ले नहीं रहा है और दूसरी ओर बिना गुनाह राम को वनवास की सजा हो गई !'

कैकेयी को भारी पश्चात्ताप हुआ कि, 'संतान के लिए तो मैंने यह सब किया तथा लायक और राज्य के असल वारसदार राम के हाथों से राज्यसत्ता छिनकर संतान के लिए राज्य माँग लिया, मगर अब तो सब उल्टा हो गया... ! एक ओर राम वनवास के लिए निकल चूके हैं, तो दूसरी ओर पुत्र भरत इसे संभालने-स्वीकारने के लिए तैयार नहीं है ! तो अब अयोध्या का राज्य किसके भरोसे पर ? पति तो संयम अंगीकार करनेवाले हैं, तो अब मुझे ही राम की क्षमा माँगकर उनको राज्य

का स्वीकार करने के लिए विनती करके वापस लाने ही चाहिये ।' ऐसा सोचकर रथ में बैठकर राम के पीछे वन में निकल गये और रास्ते में ही राम को रोक लिया ।

कैकेयी रथ से उतरकर राम को दो हाथ जोड़कर कहती है : 'वापस चलों, राज्य का स्वीकार कर लों । हम स्त्री-जात अधम और स्वभाव से तुच्छ होती है, तो यह गलती मैंने कर डाली ! मगर आप तो पुरुष हो, पुरुष तो उदार स्वभाव के होते हैं । मेरी गलती को उदारता से माफ कर लों और वापस लोट चलों ।'

यहाँ राम की स्थितप्रज्ञता देखने को मिलती है । मन में एकबार तय किया कि 'पिताजी के वचन का पालन होना ही चाहिये । अगर भरत राज्य का स्वीकार करें और मैं वन में चला जाऊँ, तभी यह शक्य है । इसलिए राज्य को स्वीकारने की कोई बात ही नहीं ।' रामचन्द्रजी नियम में पक्के हैं, स्थिर हैं, यही उनकी स्थितप्रज्ञता है । चाहे सामने बड़ा राजा बनने का प्रलोभन है, लेकिन प्रलोभन के वश होकर नियम में बदलाव नहीं; यह उनकी स्थितप्रज्ञता है ।

अब एक बड़े भाई की अदा से भरत को आज्ञा करते हैं कि, 'तुझे राज्य का स्वीकार करना ही पड़ेगा ।' और वहीं पर ही जल का कलश मँगवाकर भरत के सिर पर राज्याभिषेक कर देते है ।

यहाँ भरत के मन में बड़े भाई के प्रति इतना आदरभाव है कि वह बड़े भाई की आज्ञा का अनादर नहीं कर पाता है । आँख में आँसू के साथ बिना कुछ बोले अभिषेक का स्वीकार कर लेता है ।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है :

क्या भरत ने अब राज्य लेकर स्थितप्रज्ञता गँवा दी ?

प्रश्न : भरत का जो नियम था कि राज्य के हकदार बड़े भाई होते हुए खुद राज्य नहीं लेंगे, अब नियम का अमल तो होता नहीं है, तो क्या भरत खुद स्थितप्रज्ञता गँवा देता है ?

उत्तर : नहीं । क्योंकि, 'बड़े भाई के होते हुए खुद राज्य का स्वीकार नहीं करना' एक सामान्य प्रज्ञा है, उससे भी बढकर प्रज्ञा है कि, 'बड़े भाई की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना है ।'

अगर मौके पर अधिक महत्त्वपूर्ण प्रज्ञा का पालन करते हुए, कम महत्त्ववाली प्रज्ञा का त्याग करना पड़े, उसमें स्थितप्रज्ञता का खंडन नहीं होता है ।

उदाहरण : देखिये, कोई पुत्र का नियम है कि पिताजी के साथ ही खाना है, लेकिन कोई प्रसंग से पिताजी कोई काम में उलझ गये हैं, और वे कहते हैं : 'देख, मैं एक काम में उलझा हुआ हूँ और तुझे दुकान जाना है, तो तू खाना खा ले, मैं बाद में खा लूँगा ।'

यहाँ पर पुत्र देखता है कि, पिताजी के साथ खाने का नियम का रोज पालन होता है, लेकिन आज पिताजी की आज्ञा का पालन करने का अवसर है । पिता के बिना न खाने के नियम से बड़ा नियम है : आज्ञापालन । इस तरह से वो अगर खा भी लेता है, तो उसकी स्थितप्रज्ञता का खंडन नहीं होता है ।

बस, इसी तरह से राम के हाथों अभिषेक होने के बाद राज्य का स्वीकार करते हुए भरत की भी स्थितप्रज्ञता खंडित नहीं होती है । अब यहाँ पूछिये :

प्रश्न : राम को कैकेयी माता कहती है : 'आप वापस चलिये, अयोध्या के राज्य का स्वीकार कीजिये' और राम यह बात का इन्कार कर देते है, तो 'माता के वचन का उल्लंघन नहीं करना;' ऐसे निर्धार की प्रज्ञा राम ने क्यों न निभायी ?'

उत्तर : यहाँ पर भी इसी तरह से सोचना है कि 'माता के वचन से भी विशेष, इक्ष्वाकु वंश के राजा पिताजी का वचन निष्फल जाये, इक्ष्वाकु-वंश के राजा का वचन पालन न हो पाये; ऐसी स्थिति खड़ी न हो जाये; इसको संभालना विशेष महत्त्वपूर्ण है ।

अगर राम राज्य को सँभाल ले, तो भरत को राज्यसत्ता देने का जो वचन पिताजी ने कैकेयी को दिया था, वो मिथ्या बन जायेगा । इसलिए राम की ऐसी प्रज्ञा-सद्‌बुद्धि थी कि, मेरे निमित्त से मेरे वंश-कुल को कलंक नहीं लगना चाहिये, इसीलिए पिताजी ने कैकेयी को जो वचन दिया था, वो निष्फल नहीं ही होना चाहिये, इस प्रज्ञा का रक्षण करना, स्थिर रखना जरूरी है । ऐसी प्रज्ञा में स्थिर रहने का विशेष महत्त्व है, उसके सामने माता का वचन गौण है । रामचन्द्रजी ने यह स्थितप्रज्ञता का पालन किया । अब माता कैकेयी राज्य का स्वीकार

करने के लिए कहती है, और राम ने मना कर दिया, इसमें उनकी स्थितप्रज्ञता का खंडन कैसे माना जायेगा ?

दशार्णभद्र राजा की स्थितप्रज्ञता :

स्थितप्रज्ञता गुण की बात ही कुछ ओर बनती है । देखिये; राजा दशार्णभद्र ने सोचा कि, 'त्रिभुवनपति महावीर प्रभु नगर में पधारे है, तो किसीने भी न की हो ऐसी सबसे श्रेष्ठ यानि सर्वोत्तम भक्ति से मैं वंदन करने जाऊँ,' ऐसे शुभ संकल्प की प्रज्ञा खड़ी कर दी और अपनी सारी शक्ति का उपयोग करके इन्द्रपुरी जैसी राजमार्गों की शोभा और वरघोडा का अनुपम ठाठ-माठ सजा कर मुख्य हाथी पर खुद, ५०० सुशोभित हाथी पर ५०० रानी और लश्कर के साथ राजा दशार्णभद्र वंदन करने चलें ।

यहाँ इन्द्र दशार्णभद्र राजा का अभिमान देखकर, उनको पराजित करने के लिए ६४००० हाथी की अलौकिक शोभा के साथ आकाश से नीचे उतरते हैं ! यह देखकर दशार्णभद्र राजा का मान पीघल गया और वे चिंतित हो गये कि, 'मैंने सबसे बड़ी भक्ति के साथ वंदन करने का नियम लिया था, वह कैसे निभाऊँ ?' लेकिन मन का पक्का निर्धार है कि :

'प्रतिज्ञातुल्य यह नियम का पालन अवश्य करना है, इससे तनिक-सा भी विचलित नहीं होना है कि, 'बड़े देवता के सामने मेरी क्या ताकत ? हम ऐसे दिव्य सामर्थ्यवाले नहीं है कि ऐसी दिव्य समृद्धि का सृजन कर सके, हमें तो सिर्फ मानवीय शक्ति के खर्च में कोई भी कमी नहीं रखनी चाहिये' ऐसी कोई चंचलता का विचार भी नहीं, बल्कि प्रज्ञा को स्थिर रखनी ही है, संकल्प को हरहाल में सफल बनाना ही है ।'

इसलिए यह विचार किया कि, **'यह बड़े इन्द्र चाहे द्रव्यसमृद्धि बनाने में समर्थ है, लेकिन भावसमृद्धि, जिसे चारित्र कहते है, वो उनके पास नहीं, मेरे पास है ।'**

'अतः यदि वंदन करने से पहले में चारित्र अंगीकार कर लूँ, तो यह भावसमृद्धि का उपयोग करने से मेरी भक्ति सर्वोत्तम कहलायेगी । फिर बाद में प्रभु को वंदन करूँ, तो सर्वोच्च भक्ति का वंदन कहलायेगा । चारित्र के लिए राज्यसत्ता, रानियाँ, लश्कर आदि का त्याग करना पड़े तो कोई बात नहीं ।'

बस, मन में यह तय कर लिया और समवसरण पहुँचे । इस ओर इन्द्र भी द्रव्यसमृद्धि के साथ समवसरण में आये ।

यहाँ इन्द्र मन में सोचते होंगे और खुश भी होते होंगे कि, 'मेरी यह द्रव्यसमृद्धि की भक्ति के साथ वंदन देखकर दशार्णभद्र राजा हार जायेंगे और अपने संकल्प की गलती को कबूल कर लेंगे !'

लेकिन इन्द्र तो देखते ही रह गये और दशार्णभद्र ने वंदन करने से पहले राजा का वेश बदलकर साधु वेश धारण कर लिया, जीवनभर के लिए सर्वविरति चारित्र लेकर, प्रभु के पास आकर साधु के वेश में प्रभु को वंदन किया !

अब यहाँ इन्द्र क्या अभिमान रखें ? दशार्णभद्र को कैसे हराये ? इन्द्र खुद हार गये ! देखते हैं कि, 'ऐसी चारित्र लेने की मेरी शक्ति नहीं है । राजा दशार्णभद्र ने सचमुच कमाल कर दिया, सर्वोच्च भक्ति से वंदन करने का संकल्प पूर्ण किया !'

इन्द्र तुरंत मुनि दशार्णभद्र को दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए कहते हैं : 'राजर्षि ! मैं आपको भक्ति में हराने के लिए आया था और मैं खुद ही हार गया ! मेरी यह ६४,००० हाथी आदि समृद्धि तो द्रव्यसमृद्धि है और आपका यह सर्वत्याग भावसमृद्धि है ।'

'द्रव्यसमृद्धि चाहे कितनी भी विशाल हो, लेकिन इसके सामने भावसमृद्धि अनंतगुण विशाल है । भीष्म त्याग से आप अपने संकल्प का पालन करके जीत गये हो । आपको खूब-खूब वंदना !'

अपनी संकल्प की प्रज्ञा-सद्बुद्धि के रक्षण के लिए ऐसा था राजा दशार्णभद्र का सत्त्व ! स्थितप्रज्ञा का सत्त्व ! तब कहने का मन होता है कि, 'धन्य धन्य स्थितप्रज्ञता को, जो आत्मा को उच्च बनाती है ।'

रामचन्द्रजी और सीताजी की ऐसी स्थितप्रज्ञता थी ।

१३. पुनशावर्तन

सीताजी की यशोगाथा में हमने सीताजी के अनेक भव्य प्रसंग को विस्तृत रूप से देखे है । उसे अपने जीवन पर भारी असरकारक बनाने हेतु कहे गये विस्तृत प्रसंग में से छोटी-सी नोंध कर लेनी चाहिये, और यह नोंध का बारबार वांचन होना चाहिये, तब ये भव्य-अतिभव्य प्रसंग मन में स्थिर होते है । बाद में बारबार उसे याद करने चाहिये, तब जाकर हमारे जीवन पर उसकी गहरी असर होती है ।

यहाँ सीताजी की यशोगाथा का वर्णन किया, उसके उपसंहार में उनके जीवन के भव्य प्रसंगों को संक्षिप्त में याद कर लेते है । यह इसलिए कि,

महान आत्मा के अनेक भव्यप्रसंगों को एक साथ संक्षिप्त में देखने से ज्यादा सुकृतों की एकसाथ अनुमोदना का लाभ मिलता है ।

(१) पिता जनक राजा के वहाँ कैसे उच्चतम संस्कार प्राप्त किये थे कि पति रामचन्द्रजी वनवास जाते हैं और सीताजी को घर में ही रहने के लिए कहते हैं, फिर भी सीताजी अपनी इच्छा से वनवास स्वीकार कर पति के साथ वन में जाती है ! यही सोचकर कि, 'पति कष्ट में जाते हैं, तो मुझ से महल में कैसे रहा जायेगा ?' कष्ट को झेलकर भी पतिव्रता-धर्म का कितना सुंदर पालन !

(२) पिता के वहाँ तत्त्वज्ञान की शिक्षा भी कैसी पायी थी कि बारह साल वनवास में तत्त्वचिंतन करके सुख से-समाधि में दिन बीता रहे है ! वरना, वन में दिन कैसे बीते ?

(३) सीताजी के स्वयंवर में कितना खतरा था ? स्वयंवर में देवाधिष्ठित धनुष्य उठाकर उसे जो सँभाले, वो भले रूपवान या समृद्धिवान न हो, लेकिन सत्त्वशाली तो अवश्य होगा, क्योंकि यह काम सत्त्वशाली इन्सान ही कर सकता है;

स्वयंवर का स्वीकार करके अपना जीवन सत्त्वशाली को देने का सीताजी के मन में आनंद था । सत्त्वशाली के शरण में ही जीवन की उत्तमता और सलामती देखी थी ।

(४) क्या सीताजी के मन में ऐसा प्रश्न नहीं होगा कि,
(i) कैकेयी ने राम का राज्य-अधिकार छीन लिया ?
(ii) मुझे बिना बताये पति रामचन्द्रजी ने वनवास स्वीकार लिया ?

यहाँ सीताजी ने कैकेयी के साथ क्लेश नहीं किया, ना ही राम को शिकायत की कि, 'मुझे बताये बिना आपने कैसे वनवास स्वीकार लिया ?' सीताजी खामोश रहे और अंत में बिना बोले पति के साथ वन की ओर प्रयाण कर लिया ! यहाँ पर सीताजी का विपरीत संयोगों में भी कितना शांत और स्वस्थ चित्त ! शांत यानि बिलकुल उग्रता नहीं, स्वस्थ यानि कोई भी गलत संकल्प-विकल्प नहीं ।

(५) वन में भी सीताजी ने कभी न सोचा कि कहाँ महल और कहाँ यह वन ?

सीताजी का सम्यक्त्व कितना मजबूत होगा कि सम्यक्त्व के बल पर मन में निश्चित रूप से अंकित कर लिया है कि जीवन में संसार के क्षेत्र में पुरुषार्थ का फल मामूली, अंत में तो कर्म का हिसाब-किताब चुकते करना ही है । इसलिए कर्म के हिसाब को खुशी खुशी स्वीकार कर लेना चाहिये ।

यह कैसी सुंदर तत्त्वदृष्टि ! और उसके अमल में वनवास के कष्ट में भी कभी मन में खेद नहीं, उसी तरह पति को भी कभी ताना नहीं कि, 'मुझसे शादी करके आखिर में मुझे यह सुख दिया !' मन में गुणियल पति के प्रति दुःख का अंश नहीं, द्वेष नहीं, फिर जुबान पर ऐसे ताने कैसे आ पायेंगे ?'

(६) सीताजी वनवास के दौरान घास की बनी कुटीर में रहते थे । राम जब भी बहार गये हो, तब लक्ष्मण कुटीर के बहार खड़े रहकर दुष्ट आदमी या पशु से सीताजी की रक्षा करते थे । मगर कुटीर में अकेले बैठे सीताजी के पास बैठने की बात नहीं ! उसी तरह, सीताजी को भी कुटीर में अकेलेपन का हिचकिचाहट नहीं होता था ! देवर के साथ बात-चीत करने का भी मन नहीं होता था !

तब सीताजी की यह शीलरक्षा की कितनी तमन्ना और जागृति ! और अकेलेपन में तत्त्वचिंतन की कैसी मस्ती ! जिससे कोई भी संकल्प-विकल्प नहीं ! इसके सामने, आज के जमाने की स्त्रीयों के हावभाव और युवानों की रीतरसम देखकर सज्जन की आँख में आँसू आ जाते है ।

(७) रावण के प्रपंच से रामचन्द्रजी किसी की रक्षा के लिए बहार गये थे, तब वहाँ से सिंहनाद की आवाज आती है, तो भी लक्ष्मण सीताजी की रक्षा के लिए कुटीर के बाहर ही बैठे रहते हैं । तब सीताजी कहते हैं : 'जाओ तुम्हारे भाई की रक्षा के लिए, भाई मुसीबत में लगते है । मेरी रक्षा बाद में, पहले तुम्हारें भाई की रक्षा !'

खुद की परवाह किये बिना पति की कैसी हितचिंता ! लक्ष्मण के जाने से ही रावण को मौका मिल गया, अकेली सीताजी को उठाकर भाग गया । फिर भी सीताजी को पश्चात्ताप नहीं हुआ कि, 'अरे ! मैं कहाँ पति की चिंता करने बैठी ? उनकी चिंता में तो मेरा ही अपहरण हो गया !' ऐसा पश्चात्ताप क्यों नहीं ?

पति की हितचिंता एक सुकृत था, सुकृत के पीछे अफसोस नहीं करना चाहिये । सुकृत करने के बाद खुद के पर ही कुछ आपत्ति आ जाये, तो भी सुकृत का पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये ।

सीताजी को पक्की समझ थी : 'आपत्ति तो मेरे कर्म के अनुसार है, उसमें सुकृत को क्यों घिसटना ? क्या यह आपत्ति सुकृत की देन है ? नहीं, कर्म की देन है । तो कर्म के अपराध को देखने के बजाय सुकृत को अपराधी गिन लूँ; तो उसे बेचारे निर्दोष सुकृत पर का आरोप माना जायेगा । सुकृत करने के बाद पश्चात्ताप करना; यह तो मूर्खता है ।'

सीताजी की कैसी निर्मल बुद्धिमत्ता कि, वे निर्दोष सुकृत का पश्चात्ताप नहीं करते है : 'पति के हित की चिंता करके लक्ष्मण को भेजा, तब में यहाँ रावण के प्रपंच में फँस गई !' नहीं, वो समझ रही है कि, 'मेरा अपहरण मेरे ही अशुभ कर्म के उदय से हुआ है । मैंने पति के हित की चिंता की थी, वो सुकृत तो उचित ही था ।'

आज के माता-पिता अगर सीताजी की तरह ऐसी निर्मल बुद्धि रखें, तो बरसों तक संतान का निःस्वार्थ भाव से पालन करने के बाद संतान अगर मा-बाप को अगल कर दे, तब मा-बाप अपने किये सुकृत को जलाने जैसा काम नहीं करेंगे कि, 'हाय ! मैंने क्यों ऐसे पापी संतान को पालन-पोषण करके बड़ा किया ?'

(८) रावण ने सीताजी को अशोकवाटिका में कैद कर दिया, तब सीताजी ने साफ शब्दों में रावण को सुना दिया : 'सुन ले रावण ! मेरे से साढ़े तीन हाथ दूर रहकर ही बात करना, यदि गलती से भी मेरे नजदीक आने की कोशिश की, तो सीता नहीं, सीता की लाश ही तेरे हाथ लगेगी ! लाश पर महफिल जमानेवाले तो गीध ही होते है !' ऐसे पड़कार में सीताजी की प्राण की आहुति देकर भी शीलरक्षा की तैयारी दिखाई रही है ।

फिर रावण ने साढ़े तीन हाथ दूर रहते हुए बहोत-सी लालच दिखाई । पट्टरानी मंदोदरी भी मनाने के लिए आकर कहती है : 'तू मेरे स्वामीजी को खुश कर, हम एक हजार रानी तेरी दासी बनकर सेवा करेंगे ।' लेकिन सीताजी ने सभी लालच को ठुकरा दिया ! क्योंकि **सीताजी के मन शील के सामने दुनियाभर की संपत्ति मिट्टी समान थी, शील का मूल्य अमूल्य था ।**

(९) 'पति के शुभ समाचार न मिले, तब तक भोजन का त्याग' सीताजी ने कैद में ऐसा संकल्प करके कई दिनों बिना भोजन बीताये ! पति के प्रति उनका कितना सद्भाव ! कितना बहुमान !

(१०) **हनुमानजी के कंधे पर बैठकर भागने की सीताजी की मना :**

हनुमानजी सीताजी को लेने के लिए आते हैं और उनको अपने कंधे पर बिठा के ले जाना चाहते हैं । तब सीताजी मना कर देते हैं ।

हनुमानजी के मन में संशय होता है कि, 'सीताजी को ड़र लगता होगा है कि, इतने सारे रावण के सैनिकों के बीच में से यह हनुमान मुझे कैसे ले जा सकेगा ?'

हनुमान ने यहाँ अपनी ताकत दिखाने के लिए बड़ा पेड़ अपनी बाँहो में लेकर उखेड़ दिया, यह पेड़ लेकर आकाश की ओर उडान लगाई, और उस पेड़ से नगर के महलों की ऊपरी मंजिले तोड़ डाली ! फिर नीचे आकर हनुमानजी कहते हैं : 'देख ली मेरी ताकत ! रावण की सेना से मत डरों ।'

तब सीताजी कहते हैं : 'मूर्ख ! इतनी महेनत क्यों की ? मुझे पहले पूछना तो था, मैं तुझे कह देती कि, 'मैंने डरकर 'ना' नहीं कही है, लेकिन परपुरुष का स्पर्श भी मेरे लिए असह्य है, इसलिए तेरे कंधे पर बेठने की मैं मना कर रही हूँ ।'

हनुमान कहते हैं : 'लेकिन माताजी ! मैं तो रामचन्द्रजी का धर्मपुत्र हूँ, मतलब आपका भी धर्मपुत्र हूँ, आप मेरी धर्ममाता हो । पुत्र के कंधे पर माता को बैठने में संकोच कैसा ?'

सीताजी कहते हैं : 'तेरी यह बात तेरे हृदय की मान्यता से सच है, लेकिन व्यवहार से तू मेरे लिए परपुरुष है । व्यवहार की मर्यादा का भंग नहीं हो सकता । जब पुत्र तीन साल का हो जाता है, तब माता भी अपने बेटे को गले लगाकर नहीं सुलाती है ।'

शीलरक्षा के लिए सीताजी का कैसा जबरदस्त मर्यादा का पालन !

प्रश्न : यदि मर्यादा के पालन के लिए सीताजी हनुमान के साथ नहीं जाती है, तो क्या सीताजी को रावण से शीलभंग का भय नहीं था ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि शीलभंग से पहले प्राणभंग की तैयारी थी !

अरे ! शीलभंग तो दूर की बात, लेकिन रावण से आँख मिलाने जितना शील-मर्यादा का भंग सीताजी को मान्य नहीं था । इसलिए तो रावण को तीन हाथ दूर रहने की चेतावनी दे दी थी और जब रावण सामने आता था, तब खुद नजर झुकाकर, लगभग आँखे बंद करके बैठते थे । इसमें रावण का चेहरा या शरीर कहाँ से नजर में आयेगा ?

शील का पालन तो करना ही है, लेकिन शील-मर्यादा का भी पालन इतना दृढ था कि ऐसी खतरेभरी कैद से बचने के लिए भी नहीं तो हनुमानजी के कंधे पर बैठकर भाग जाने की बात ! नहीं तो रावण का मुँह तक देखने की बात !

उदयरत्न कवि कहते हैं :

'उदयरत्न कहे धन्य ए अबला, सीता जेहनुं नाम;
सतीओं मांही जेह शिरोमणी, नित्य होजो प्रणाम ।।'

सीताजी के प्रसंग को फिर से दोहराना किस लिए ? :

सीताजी के जीवन प्रसंगों को एकसाथ संक्षिप्त में देखते है, इसमें खेद मत करना कि, 'यह क्या वही का वही पिष्ट का पिंजन ? सीताजी का पूरा जीवन तो देख लिया, अब क्यों फिर से उसे सोचना ?' क्योंकि इसमें तो ऐसी भरपूर सुकृत-धारा की अनुमोदना का लाभ मिलता है ।

सुकृत की बारबार अनुमोदना करने से खूब शुभ अनुबंध बनते है । शुभ अनुबंध से परभव में अतीव सद्‌बुद्धि मिलती है ।

अगर इस जनम में हमें सद्‌बुद्धि की जगह दुर्बुद्धि ज्यादा जागृत होती है, यानि क्षमा, नम्रता, निर्लोभता आदि की जगह क्रोध, मान, लोभादि की बुद्धि ज्यादा जागृत होती है, त्याग की जगह विषयराग के भाव ज्यादा जागृत होते है, तो ऐसे शुभभाव जागृत न होने में कारण है : हम पर्याप्त मात्रा में शुभ अनुबंध पूर्वभव से साथ लाये नहीं हैं । शुभ अनुबंध भी साथ न आने में कारण है : पूर्वभव में हमने पवित्र हृदय से दूसरों के सुकृत एवं सद्‌गुणों की अनुमोदना नहीं की है ।

इसलिए अब यदि भवांतर में भव्य सद्‌बुद्धि, सुमति, शुभभाव चाहते हो, तो यहाँ महान आत्माओं के सुकृतों की, सद्‌गुणों की खचाखच अनुमोदना करते रहों । हम अनुमोदना बारबार करते रहें, इसीलिए यहाँ सीताजी के जीवन-प्रसंग गुनगुनाये जाते है ।

रावण की कैद से हनुमानजी के कंधे पर बैठ के न जाने का सीताजी का प्रसंग खास ध्यान में लेने जैसा है । क्योंकि हनुमानजी कहते हैं : 'यहाँ अकेले आपकी सलामती क्या ?'

तब सीताजी कहते हैं : 'मुझे मेरा शील सलामत है, मतलब सब सलामत है । रावण को साढे तीन हाथ दूर रहने की चेतावनी दी है और वो दूर ही रहता है । उसको पता चल गया है कि अगर मैं नजदीक आया और छूने गया, तो उससे पहले सीता अपने प्राणत्याग कर देगी । सीता प्राणत्याग करेगी, लेकिन अपना शील नहीं गवाँयेगी । इस प्रकार यहाँ शील सलामत है, फिर तुम्हारे यानि परपुरुष के कंधे पर बैठकर शील-मर्यादा का भंग क्यू करूँ ?'

इस तरह, शील और दूसरे गुणों की भी मर्यादा के पालन का और असत् निमित्त के सेवन नहीं करने का भी बोधपाठ मिलता है ।

(११) रावण का अभिमान :

बाद में रावण ने सीताजी को वापस भेजने का सोचा, लेकिन उसे अभिमान खटक गया कि, 'ऐसे ही सीता को मैं जाने दूँ, तो मेरी बदनामी होगी कि,

'देखों; राम-लक्ष्मण से पराजय होने की गभराहट से रावण ने सीताजी को छोड दी ! लोग इसे मेरी कायरता समझ लेंगे । उसकी जगह राम और लक्ष्मण को युद्ध में पराजित करके कैद कर लूँ, भरे दरबार में उन्हें कैदी के रूप में ला दूँ और बाद में कहूँ :

'जंगल में भटकने वालों ! ले जाओं अपनी सीता को । आपको आपकी सीता का दया-दान करता हूँ ।' ऐसा बोलकर सीता को दूँ, तो मेरी बहादुरी और उदारता की प्रशंसा होगी ।' ऐसे अभिमान से रावण युद्ध करने के लिए गया, तो उसका विनाश हुआ ।

हमें अभिमान कभी न सताये; इसके लिए यह प्रसंग एक जबरदस्त बोधपाठ है । अभिमान में बहुत कुछ गँवाना पड़ता है, लाभ तो कुछ भी नहीं, किन्तु अनंत-अनंतकाल से चला आ रहा मान-कषाय मजबूत होता है । यदि इस भव में मान को न तोड़ा, तो ओर कौन-से भव में हम मान-कषाय खत्म कर सकेंगे ? जो मौका है, वो यहीं पर है कि, **'हमने जिनशासन पाया है, तो मान-कषाय को उपशांत कर देना; हमारा कर्तव्य है ।'**

(१२) सीताजी का जंगल में त्याग :

सीताजी को अयोध्या में ले आये, बाद में लोकचर्चा हुई कि, 'राम बड़े राजा ! कि दूसरे के घर में रहकर आई हुई पत्नी को अपने महल में वापस ले आये ! क्या इतना पत्नी-मोह ?' इस लोकचर्चा से राम घबरा गये और सेनापति के साथ सीता को वन में भेज दिया ! लेकिन यहाँ पर भी सीता न तो रोने लगी या पति राम को संबोधित कर कोई भी गलत शब्द बोली ! बल्कि,

सेनापति रो रहा था कि, 'आप जैसी महासती को जंगल में अकेले छोड़ देने की नौकरी मुझे करनी पड़ी, उससे पहले मेरे शरीर में से प्राण निकल क्यों न गये ? कि जिस पापी शरीर के खातिर मुझे ऐसी अधम नौकरी करनी पड़ती है ?' सेनापति रो रहा था ।

तब सीताजी ने उसको आश्वासन दिया कि, 'तू रो मत, इसमें तेरा कोई दोष नहीं है, स्वामी का भी दोष नहीं है, दोष तो मेरे कर्म का है । यह कर्म मुझे ही भुगतने है । चल; मैं खुद ही रथ से उतर जाती हूँ ।'

सीताजी का कितना धैर्य कि जब खुद को आश्वासन की जरूरत है, तब वो सेनापति को आश्वासन दे रही है !

यह प्रसंग से सबक लेने जैसा है । कभी-कभार हम आपत्ति में हो और दूसरों को आश्वासन देते रहें; मानों कि हम पर कोई आपत्ति ही नहीं है ! अगर यह कला हम सीख ले, तो मृत्यु के समय अपना कोई स्वजन हमें क्या आश्वासन देंगे, हम ही अपनेवालों को आश्वासन दे पायेंगे !

और, सीताजी की तत्त्वदृष्टि भी कैसी ! घोर जंगल में अकेली गर्भवती अवस्था में है और साथ में कोई वस्त्र भी नहीं है, खाना भी नहीं है, पानी पीने के लिए प्याला जैसा कोई बर्तन भी नहीं है ! इन सबके अलावा भी जंगल में आनेवाली महाआपत्ति, महादुःख के समय ऐसी तत्त्वदृष्टि कि, 'यह तो मेरे कर्म ने किया है । इसमें दूसरों का कोई दोष नहीं है । **पूर्वभव में मजे से हमने कर्म किये, तो इस भव में मजे से ही कर्म भुगतना भी हमें सीख लेना चाहिये । तो ही कर्म-कूडे का निकाल हो पाता है ।**'

हमारे जीवन के बहुत सारे प्रसंग में ऐसी तत्त्वदृष्टि और धैर्य रखने का यहाँ हमें सबक मिलता है ।

(१३) सीताजी का संदेश :

सीताजी को जंगल में छोड़कर जाते समय सेनापति संदेश माँगता है, तब सीताजी राम को यह संदेश भेजती है कि, 'आपने लोकचर्चा से मेरा त्याग किया, ठीक है । मुझे छोड़ देने से आपको मुझसे ज्यादा अच्छी पत्नी नहीं मिलेगी; ऐसा नहीं है, आपका मोक्ष रूक जायेगा; ऐसा भी नहीं है ।'

'लेकिन कल अगर कोई आपके धर्म की निंदा करे कि, 'यह हमारा राजा कैसा बुद्धिहीन है कि अलग-अलग धर्म की प्रजा के मालिक होने के बावजूद भी एकमात्र जैनधर्म को पकड़ कर बैठा है !' तब ऐसी लोकचर्चा से घबराकर आप अपना जैनधर्म मत छोड़ देना । क्योंकि अगर जैनधर्म छोड़ दिया, तो इससे बढ़िया दूसरा धर्म तो नहीं, किन्तु इसके समकक्ष में आनेवाला धर्म भी नहीं मिलेगा और आपका मोक्ष रूक जायेगा ।'

सीताजी अति विकट स्थिति में है, फिर भी ऐसे मौके पर भी राम को कोई अपशब्द भी नहीं, कोई ताना भी नहीं : 'आप कैसे दगाबाज और निर्दय ! मेरी यह दशा बना दी ?' नहीं, कोई भी ऐसी वैसी बात नहीं, लेकिन स्वामी के एकमात्र धर्मरक्षा की और आत्मकल्याण की चिंता का ही संदेश ।

सीताजी के रोम-रोम में धर्म की कितनी लगनी छा गई होगी, यह देखना है ! उसमें से यही सबक लेने जैसा है, जिससे जीवन के प्रसंग में ऐसी धर्मलगनी जीवित रखते हुए कोई भी गलत बात कभी भी नहीं बोलनी चाहिये, गलत काम नहीं करने चाहिये ।

(१४) सीताजी की गंभीरता :

जंगल में अकेले रहते सीताजी को धर्म के भाई के रूप में एक राजा मिलता है । यह राजा सीताजी को धर्म की बहन मानकर अपने महल में ले आता है । सीताजी को दो पुत्र हुए, लवण और अंकुश ।

यहाँ सीताजी की गंभीरता कैसी कि, ये दोंनो पुत्र १६-१८-२० साल के हुए, तब तक सीताजी उन्हें कुछ भी कहती नहीं है कि, 'तुम्हारे पिताजी ने मेरी ऐसी-ऐसी यह दशा की थी ।' कितनी गंभीरता !

हम थोड़ी-सी भी मुश्किल परिस्थिति में दूसरों को कहने लगते हैं कि, 'इसने मेरा ऐसा किया ।' यहाँ खुद अपने बेटे को भी कहने की बात नहीं है ! एक ही हिसाब कि, 'यह मेरे कर्म के कारण हुआ है, उसमें दूसरों को बताने से क्या फायदा ?'

एक ओर, कर्म ने तो बाज़ी बिगाड़ ही दी है, और दूसरी ओर, दूसरों के दोष बोल-बोलकर क्या हम खुद ही हमारे हाथों से बिगाड़ेंगे ?

अगर यह कर्म और हमारी सलामती की सोच मन में रहे, तब सीताजी जैसी गंभीरता पानी आसान है ।

(१५) पिता के साथ युद्ध में पुत्रों को आशीर्वाद नहीं :

सीताजी ने अपने कर्म के हिसाब को मन में रखकर गंभीरता से पुत्रों को 'पति की ओर से त्याग' की बात नहीं की थी । लेकिन पुत्रों को ओर कहीं से

खबर मिलती है, तब सीताजी से कहते हैं : 'मा ! तुमने तो हमें यह बात नहीं बतायी, लेकिन हमें पता चल गया हैं, तो क्या पिताजी ऐसा समझते हैं कि सीताजी की रक्षा करनेवाला कोई नहीं है, तो उनको जंगल में अकेले छोड़ दो ! अब हम रक्षा करने के लिए तैयार हैं । हम चलते हैं उनके साथ युद्ध करने के लिए और उनको पराजित करके दिखा देंगे कि ये सीताजी के रक्षणहार है । बस, हमारे सिर पर आपका हाथ रखकर विजय का आशीर्वाद दों ।'

क्या सीताजी ने आशीर्वाद दिया ? नहीं, बल्कि उन्होंने डाँटा कि, 'अरे मूर्ख ! पिताजी के साथ युद्ध ? उनके तो पाँव छूने चाहिये । अगर तुम पाँव छूने जा रहे हो, तो मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ है ।'

यहाँ सीताजी के हृदय की कितनी स्थितप्रज्ञा और विवेक दिखाई देता है ! रामचन्द्रजी को पति के रूप में स्वीकार करते हुए मन में ऐसी प्रज्ञा थी कि, 'उनको जीवन सर्मपण, किसी भी संयोग में ये मेरे लिए पूज्य ।'

यह प्रज्ञा स्थिर है, इसलिए यहाँ पति की ओर से त्याग का संयोग होने के बावजूद प्रज्ञा में कोई परिवर्तन नहीं ! पति पूज्य है, सिरोमान्य है, तो उनको पुत्र के जरिए भी आपत्ति हो, उसमें अनुमति कैसी ? पति के प्रति कितना बहुमान ! उनकी कितनी उत्तमता ! जैसे कि पति की ओर से कोई आपत्ति हुई ही नहीं है !

सोचने जैसा है कि कोई भी स्वजन की ओर से आपको इतनी तो भारी आपत्ति नहीं हुई है, फिर भी उनके प्रति सालों से दुर्भाव चलता है ना ? उनके प्रति हृदय में बहुमान नहीं, लेकिन अवज्ञा या तुच्छ दृष्टि रहती है ना ? सीताजी को ऐसा क्यों नहीं ? क्योंकि एक बात यह है कि उन्होंने मन में पति को 'पूज्य' मान रखे हैं, और दूसरी बात यह है कि पति के अनेक गुण और उत्तमता उनकी नजर के सामने है । ये दोनों भाव सीताजी के मन में पति के लिए तनिक-सी भी हीन भावना-दुर्भाव होने ही नहीं देते है !

उत्तमता के उपाय :

उत्तमता अगर लानी है, तो यही एक मार्ग है कि दुश्मन के लिए भी, विरोधीयों के लिए भी उनके अच्छे गुण और विशेषताएँ अपनी नजर के समक्ष रहनी चाहिये ।

इतना ध्यान में रखें कि,

'हृदय में ऐसी उत्तमता बसाने के लिए एकमात्र इन्सान का ही हृदय योग्य है। इस भव में हृदय में उत्तमता नहीं बसायेंगे, तो फिर कौन-से अवतार में बसा सकेंगे ? यह सिखानेवाला जिनशासन फिर कब मिलेगा ?' अगर यह ध्यान में रहें, तो तमन्ना होगी कि, 'हृदय को उत्तम बनाने की धीरे धीरे भी शुरूआत करूँ। महान आत्मा भी इस तरह हृदय को उत्तम बनाते हुए आगे बढे है। मुझे भी महान बनना है, तो बस यही एक उपाय है।'

(१६) सीताजी का दिव्य :

सीताजी की एक महान विशेषता किस ऊँचाई पर जाती है ? यह देखिये :

सीताजी ने राम के कहने पर दिव्य करना मंजूर किया, वहाँ उनके मन में यह बात नहीं आई थी कि, 'पति ने घोर जंगल में त्याग देने का जो जुल्म किया; वो क्या कम था, तो अब ३०० हाथ की गहरी खाई की अग्नि की ज्वाला में से निकलने के लिए कह रहे हैं ? हाय रे ! ऐसी अग्नि की ज्वाला में जाने का ?' ऐसा विचार क्यों नहीं आया ? बताइये,

(i) पहला तो, जंगल में त्याग करने का जुल्म पति ने किया है, यह बात मानते ही नहीं थे, नहीं तो बेटे के सामने यह बात रखी होती। सीताजी यही मानते थे कि, यह तो कर्मों के हिसाब से जुल्म हुआ है। और यहाँ अग्निप्रवेश की बात में अपने खुद के सतीत्व पर अटल विश्वास है, इसलिए दिव्य की बात से बिलकुल घबराये नहीं।

(ii) दूसरा, 'पतिवचन यानि ब्रह्मवचन, उस पर दूसरी विचारणा ही नहीं,' ऐसा समझते थे। इसलिए बिलकुल घबराये नहीं।

क्या हमें गुरुवचन, बुझुर्गवचन, आदि ब्रह्मवचन लगते है ? इसके बिना उद्धार कहाँ है ?

सीताजी ने अपने सतीत्व को कैसा सँभाला होगा कि उनको यह श्रद्धा है कि, 'अग्निप्रवेश के दिव्य में कुछ जलनेवाला ही नहीं है।'

सीताजी को रूपवान पुरुष देखने तो मिले ही होंगे, पर एकबार भी उनके प्रति अंशमात्र आकर्षण क्यों नहीं हुआ ? इसलिए यह सोचना है कि, **परपुरुष के रूप का आकर्षण भी शील में बाधक है।**

ऐसे आकर्षण को किस तरह से रोका जाये ? इसलिए सोचिये कि,

इस जगत में जीव विषयों के बीच जकड़ा हुआ है और जीव को अपने अनंत काल से विषयवासना के संस्कार लगे हुये है, इस संस्कार को जागृत होने में कितनी देर ? इससे बचें कैसे ?

(१) या तो वासना के संस्कार न होते, तो विषयों के संयोग से किसी भी तरह की विषय-क्रीडा होती ही नहीं ।

(२) अगर, वासना होती, लेकिन विषय के संयोग नहीं होते, तो यह जीव किसी भी प्रकार की विषय-क्रीडा कर नहीं सकता ।

इंधन और अग्नि अगर मिले, तब ज्वाला होती ही है । ईंधन; विषय है और अग्नि; वासना है । ये दोनों अगर मिल जाये, तो फिर कैसे बच पायेंगे ?

संसार में संसारी जीव के पास दोनों है, इसलिए अच्छा खाने की, अच्छा देखने की, अच्छा सुनने की, अच्छे स्पर्श की... आदि विषय-क्रीडा अनंतकाल से चली आयी है, इससे कैसे बच सकते है ?

विषय-क्रीडा से बचानेवाले है :

(i) सिर पर धर्म-कर्तव्य की ज़िम्मेदारी, और
(ii) हृदय में पाप का भय, पाप के प्रति नफरत ।

सिर पर धर्म-कर्तव्य की ज़िम्मेदारी जीव को यह समझाती है कि, 'देख, यह विषय-संग करने योग्य नहीं है । जब हम बुद्धिहीन पशु थे, अनार्य थे, तब विषयसंग अनंत बार किये । वहाँ जीव को तृप्ति नहीं मिली, फिर भी अज्ञानता में विषयसंग को महा अधर्म के रूप में समझ नहीं पाये । लेकिन अब जब धर्म सिर पर है, तो यह नहीं चलेगा । नहीं तो जो धर्म की अज्ञानता में किया, वही धर्म को सिर पर रखने के बाद भी करेंगे ?' जीव यदि ऐसा सोचे, तो जागृति रहेगी । सांसारिक प्रसंग में मन विचलित नहीं होगा ।

सीताजी को अग्निज्वाला में प्रवेश करना है, फिर भी उलझन नहीं है; क्योंकि काया जलने की चिंता उतनी नहीं है, जितनी पति के आज्ञा-पालन की है ।

दिव्य किया ! अग्नि प्रवेश किया ! लेकिन प्रवेश के साथ ही ३०० हाथ की अग्नि की खाई जल-सरोवर बन गई ! यहाँ सीताजी का सतीत्व कितना निष्कलंक ! हृदय कितना दृढ़ !

शील और सम्यक्त्व दोनों की दृढ़ता के लिए यह प्रसंग ध्यान में रखने लायक़ है । शादी के बाद दूसरें सभी भाई-बहन, या माता-पिता लगे, तब शील की दृढ़ता रहेगी । जैसे सीता के मन एक राम, उसी तरह, समकिती के मन एक अरिहंत होते है, तब ही सम्यक्त्व दृढ़ रहता है ।

(१७) जल की ज्वार : सीताजी की दुश्मन के प्रति भी करुणा :

इस प्रसंग में सीताजी की दुश्मन प्रति भी सौम्यता और करुणा से भरे हृदय की विशेषता देखने को मिलती है । खाई सरोवर बन जाता है और उसके मध्य में सीताजी सुवर्ण कमल पर बिराजमान है !

वहाँ पानी की ज्वार ऐसी ऊँची उठने लगी कि, पानी वहाँ खड़े लोगों के सिर के ऊपर जाने लगा ! वहाँ सब लोग भयभीत हो गये : 'अब कहाँ जाये ? चारों ओर जल ही जल है ।'

दैवी उपद्रव में दैवी शक्ति ही एकमात्र उपाय है ।

महासती का सतीत्व कैसी दैवी-शक्ति को धारण करता है; यह सभी ने यहाँ अग्नि की खाई को सरोवर में बदलते हुए देखा । अब सब चिल्ला रहे हैं : 'हे जगदंबा ! बचाइये, हे जगदंबा ! बचाइये ।'

यहाँ पर भी सीताजी की विशेषता देखिये कि उनको ऐसा नहीं होता है कि, 'मेरी निंदा करने में आपको जरा-सी भी हिचकिचाट नहीं हुई ? असती का भयंकर आरोप मुझ पर ठोक दिया था, अब मरों ! आपको मैं नहीं मार रही हूँ, आप अपने पाप से मर रहे हो; इसमें मैं क्या करूँ ?' नहीं, ऐसी कठोर निर्दय वृत्ति महासती के हृदय में नहीं आई । सबको इस ज्वार में डूबते हुए देखकर उनके हृदय में भारी दया आई ।

उन्होंने तुरंत ही दोनों ओर बढ़ते हुए पानी के ऊपर दोनों हाथ रख दिये, यह संकल्प के साथ कि, 'मेरे शील के प्रभाव से जल शांत हो ।' और आश्चर्य हुआ कि जल तुरंत उतरने लगा और तरंगित जल शांत सरोवर बन गया ।

यह प्रसंग दुश्मन के ऊपर भी हृदय को करुणा-अमृत रखने का सिखाता है, कठोरता के विषरस से व्याप्त न होने की सीख देता है ।

(१८) सीताजी अग्नि का जल होने में भी राम का उपकार मानती है ।

अब सीताजी का एक जबरदस्त - कृतज्ञता गुण देखने को मिलता है । सीताजी सरोवर से बहार आये । रामचन्द्रजी की आँख से आँसू बह रहे थे और सीताजी से कहते हैं : 'महादेवी ! धन्य है आपके सतीत्व को ! हे महासती आप मुझे माफ कीजिये, मैंने बड़ा अपकार किया है, मैं उसकी क्षमा माँगता हूँ ।'

सीताजी कहते हैं : 'अरे ! आपने यह क्या कह दिया ? आपने तो मुझ पर महान उपकार किया है ।'

राम कहते हैं : 'ताने में बोल रहे हो ?'

सीताजी बोलें : 'नहीं, सत्य कह रही हूँ । आप ही मेरे हृदय में थे, तभी तो अग्नि का जल बन गया । अगर, मेरे हृदय में आपकी जगह कोई ओर होता, तो अग्नि का जल नहीं, लेकिन अग्नि से मेरी काया राख बन गई होती । मेरे हृदय में आपके बसने पर ही अगर अग्नि जल बन जाती है, तो यह क्या आपका मुझ पर कम उपकार है ? इसलिए खुशी के समय दुःख मत कीजिये; यही मेरी विनंती है ।'

सीताजी की यहाँ कितनी प्रचंड कृतज्ञता दिखाई देती है ! बताइये, अग्नि का जल में बदलने से अपने सतीत्व ऊपर गर्व होगा ? अपने सतीत्व का प्रभाव दिखेगा ? या पति के उपकार पर गर्व होगा ? बताइये,

जिसकी वृत्ति स्वोत्कर्ष की होती है, खुद की बड़ाई के अभिमान की होती है, उनको दूसरों के उपकार याद नहीं आते ।

व्यवहार में भी मा-बाप ने सालों तक समय, शरीर और संपत्ति का त्याग करके बेटे को बड़ा किया, काबिल बनाया । अब बेटा व्यापार में अच्छा कमाने लगा है, तो उसे लगता है कि, यह मेरी काबेलियत का प्रभाव है कि, 'मैं पिताजी से भी अच्छा व्यापार करता हूँ, ज्यादा पैसा कमाता हूँ !'

यह क्या है ? स्वोत्कर्ष – खुद की बड़ाई का अभिमान ! और बाप के अनराधार उपकार का विस्मरण ! यहाँ कृतज्ञता कहाँ ? यहाँ हृदय की कितनी बेशर्मी ! कितनी निष्ठुरता !

आदमी कितना मूर्ख है कि थोड़ी-सी गलत सोच में जनम जनम तक दर्द देने वाली निष्ठुरता को अपना लेता है । खुद की बड़ाई की गलत सोच की जगह उपकारी के उपकार को याद रखें, तो यह निष्ठुरता के जनम-जनम के अनर्थ को रोक दे । अंतरचक्षु को खोलकर देखों, तो हर कदम पर माता-पिता के उपकार, गुरुजनों के उपकार और अरिहंत देव के उपकार याद आयेंगे ।

परदेशी औरत का ईश्वर का उपकार-स्मरण :

परदेश में एक पेंतीस साल की औरत के पति का देहांत हो गया । ५-६ संतान है, औरत दुविधा में आ गई : 'जो कमानेवाला था, वो अब नहीं है, तो ये सबका पालन-पोषण कौन करेगा ?'

एक मानसशास्त्री मिला । उसको वह औरत कहती है : 'ईश्वर के साम्राज्य में यह कैसा अँधेर है ? बिना संतानवालों को कोई मुसीबत नहीं और ६ संतानवाली मुझे वैधव्य ? और भूख से मार देनेवाली मुसीबत ?'

मानसशास्त्री कहता है : 'अँधेर नहीं, उजाला है । बिना पुरुषार्थ बैंठे बैंठे खाते थे, अब आपको पुरुषार्थ को उजागर करने का उजाला मिला है । **मजे से खाते-पीते बैठे थे, और ईश्वर को भूल गये थे; वो अँधेरा था ।**'

अब ईश्वर को याद करने का, ईश्वर की प्रार्थना करने का, ईश्वर के उपकार का स्मरण करने का उजाला मिला है, तो अब ईश्वर की अचिंत्य शक्ति पर श्रद्धा रखों । ईश्वर को प्रार्थना करों कि आपके अचिंत्य प्रभाव से मेरा अच्छा होगा और अच्छा हो ही रहा है; ऐसे ही ईश्वर की कृपा को मानते रहों । लों, थोड़ा पैसा, बिस्कूट बेचने की छोटी-सी दुकान रख लों, साथ में ईश्वर की प्रार्थना करते रहों और कृतज्ञता जताते रहों ।

भगवान से प्रार्थना :

बस, अब औरत का मन निश्चिंत हो गया, उसमें हिंमत आ गई, तबसे इस प्रकार की छोटी-सी दुकान रखकर हररोज ईश्वर को प्रार्थना करती है :

'प्रभु ! तेरा प्रभाव अचिंत्य है, तेरी दया है, तेरी दया से ही मेरा अच्छा होगा ।'

जैसे जैसे परिस्थिति में बदलाव आता है, वैसे वैसे 'यह तो प्रभु की दया ! प्रभु तेरा उपकार मानती हूँ' इस तरह वह औरत प्रभु का उपकार मानती रहती है ।

इस तरह उसका भगवान के प्रति भाव में वृद्धि होने लगी । जैसे जैसे उसकी अनुकूलता प्रतिदिन बढने लगी, वैसे वैसे उस औरत को ऐसा लगने लगा कि सचमुच इसमें प्रभु की दया ही काम कर रही है; अर्थात् ईश्वरीय सत्ता और ईश्वरीय दया पर उसकी श्रद्धा बढ़ने लगी । अब वो नियमित रूप से उभयकाल प्रार्थना करती है कि,

'हे प्रभु ! कैसी तेरी अद्‌भूत दया है कि इसके प्रभाव से मेरा सब कुछ सिद्ध हो रहा है । मेरे तो पति गये अर्थात् मेरा भाग्य ही रूठ गया था । रूठा हुआ भाग्य पैसा कैसे दे पायेगा ? लेकिन प्रभु ! तेरी दया के अचिंत्य प्रभाव से मुझे पैसे वगैरह की सब बात की अनुकूलता हो रही है । तेरा खूब खूब आभार मानती हूँ ।'

औरत का कामकाज बढ़ गया । उसकी छोटी-सी दुकान में से बड़ा स्टोर हो गया । तब एकबार मानसशास्त्री उसको मिलते हैं, खबर पूछते हैं : 'कैसा चल रहा है ?'

तब वो औरत कहती है : 'सचमुच ! आपने तो मेरी आँखें खोल दी । इस जगत में मुख्य कार्यवाहक तत्त्व ईश्वर है, उसे तो मैं भूल ही गई थी, उसे तो मैं पहचान ही न सकी । तब आपने मुझे ईश्वरतत्त्व की पहचान करवाकर प्रतीति दिलाई कि, जग में और अपने जीवन में जो कुछ अच्छा हो रहा है, वह ईश्वर के प्रभाव से ही हो रहा है, ईश्वर की दया से ही अच्छा हो रहा है ।

ईश्वर की अपरंपार दया से अकल्पनीय काम भी हो रहे है । मैंने ऐसा बहोत अनुभव किया है । उदा.,

- घर से बाहर निकलते वक्त मन में ऐसा सोचा कि, 'वह भाई दो साल से मिले नहीं है' आश्चर्य हुआ कि आगे रास्ते में ही वह भाई मिल गये !
- अथवा 'दुकान खोलने के बाद जब आधे घंटे तक कोई ग्राहक न आया, तो मन को लगा कि, 'आज धंधा होगा या नहीं ? वहीं ग्राहक हाजिर ! और ईश्वर की दया वहाँ तक कि ग्राहकी बढ़ती ही गई !

- रोज की जिंदगी में भी मन में हुआ कि, 'बाजार में से यह चीज मिल जाये, तो लानी है' जब बाजार में जाऊँ, तब जल्दी ही वह चीज मिल जाती है ।

इसमें मेरी होशियारी क्या काम रही थी ? कुछ भी नहीं, ईश्वर की दया ही काम कर रही थी ।

'इसलिए मैंने ऐसा निश्चित कर लिया कि जो चाहा था, वो मिल गया, वहाँ मैं ईश्वर का उपकार मानती रहूँ ।' 'Thank You God' (थेन्क यु गोड) अर्थात् भगवान ! आपका उपकार मानती हूँ ।'

'आप मानेंगे ? दिन में कई बार मैं 'थेन्क यु गोड, थेन्क यु गोड' कहती हूँ । पानी पीने ग्लास में पानी लिया कि तुरन्त 'थेन्क यु गोड' बोलती हूँ । प्रभु ! आपका उपकार मानती हूँ कि ग्लास में पानी मिला ।'

तो क्या वह औरत बारबार ईश्वर का उपकार मानती होगी ? हा, जरूरत पड़ने पर उसको दिन में देढ़ सो बार 'थेन्क यु गोड-प्रभु ! तेरा उपकार मानती हूँ ।' याद आता है । इसका फल उसे कदम कदम पर दिखाई देता है । कुछ भी चिंता किये बिना इच्छित चीजें सहजता से मिल जाती है ।

मानसशास्त्री से औरत बोली : 'आपने मुझे यह कैसे गजब दयालु ईश्वर की पहचान करवाई ! कितनी बड़ी प्रभु की दया ! तुम्हारा उपकाार मानती हूँ !'

यहाँ यह देखना है कि रोजगार चलाने में औरत की महेनत काम करती थी और उसीसे कमाई होती थी, लेकिन औरत के मन में ऐसा क्यों नहीं होता था कि, 'कमाई मेरी महेनत से हो रही है ?' उसके मन में ऐसा क्यों होता है कि 'कमाई प्रभु की दया से ही हो रही है ?'

इसका कारण यह है कि औरत के मन में यह निश्चित हो गया है कि, 'अजब गजब सिद्ध होने में मानव का क्या सामर्थ्य ? प्रभु की अचिंत्य शक्ति ही काम कर रही है । मैंने प्रभु से प्रार्थना की, तब यह प्रार्थना और प्रभु की दया से मेरी महेनत सफल हुई । अभिमान से प्रभु की अवगणना करके खुद की बड़ाई पर बहक गई होती, तो मेरी ये स्वच्छंद महेनत कुछ भी फल नहीं दे सकती । प्रभु का नाम लेती हूँ और काम हो जाता है; इसमें प्रभु की दया काम कर रही है ।'

उस औरत को वैधव्य आने के बाद आश्वासन देनेवाला मानसशास्त्री मिलता है, औरत से पूछता है : 'बहन अब कैसा चल रहा है ?'

तब वह औरत कहती है कि, 'आपने तो मेरे पर बहुत उपकार किया है, आपने मुझे भगवान की असीम दया दिखाई । इसलिए रोज सुबह और शाम मैं भगवान की दया का गुणगान करके प्रार्थना करती हूँ और आश्चर्य यह हुआ कि मैं छोटी दुकान में से आज बड़ा स्टोर चलाने लगी हूँ । इसलिए ही रोजबरोज की घटनाओं में या अवसर आने पर 'Thank You God' (भगवान आपका उपकार) कहती हूँ ।'

आपका बड़ा उपकार है कि आपने मुझे भगवान की अनंत दया मुझे समझाई । भगवान की इस जगत पर कल्याण-साम्राज्य चलानेवाली अपरंपार दया की आपने मुझे पहचान करवाई, तो आज मैं मेरे जीवन के दृष्टांत से दूसरे को सिखाती हूँ कि भगवान ही मुख्य उपकारी है; ऐसी श्रद्धा रखों, भगवान की अपरंपार दया पर श्रद्धा-विश्वास रखों और बात बात में भगवान का आभार मानते चलों ।

संसारिक प्रवृत्तियाँ तुच्छ हैं, किन्तु जीवन में भगवान का शरण रखना और भगवान का अचिंत्य प्रभाव, अचिंत्य दया माननी; यह मुख्य है ।

प्रभु की प्रार्थना और श्रद्धा से सद्‌गुण कैसे खीलते हैं ?

भगवान पर श्रद्धा रखने से और सब कार्यों में मुख्य कारणभूत भगवान की दया की मान्यता रखने से अपना अहंकार पिघल जाता है और दूसरों के प्रति प्रेम, स्नेह, मैत्रीभाव, सहानुभूति उत्पन्न होती है । भगवान की दया पर मुख्य आधार रखने से सत्य-न्याय-नीति वगैरह सद्‌गुण खिलते हैं और असत्य-अन्याय-अनीति करने का मन ही नहीं होता हैं; क्योंकि हृदय में निश्चित हो गया है कि भगवान की दया से ही सब कुछ अच्छा होनेवाला है, तो फिर बाँवरे होकर क्यों जूठ-अनीति-क्रोध-अहंकार वगैरह का शरण लें ?

उपकारी का उपकार मानने से अपना अहंकार पिघल जाता है ।

अग्नि की खाई जल का सरोवर बन गई; इसमें सीताजी को सतीत्व का अभिमान लेने का मन न हुआ, किन्तु पति राम के आगे कहते हैं : 'इस अग्नि का जल हो गया,

इसमें आपका उपकार है । आप मेरे हृदय में बसे थे, इससे अग्नि का जल हो गया है । यदि हृदय में कोई ओर होता, तो यह न होता और मैं जलकर राख हो जाती ।'

अपने जीवन में भी यही मानना है कि, अपनी बुद्धि, होंशियारी और अगर महेनत चाहे कितनी भी ज्यादा हो और इच्छानुसार प्राप्त भी हो जाये, लेकिन वहाँ उपकार भगवान का ही मानना है । 'भगवान के प्रभाव से ही मनमाना मिल गया' ऐसा सोचकर भगवान का उपकार मानना है ।

हररोज चैत्यवदंन में 'जय वीयराय' सूत्र में 'इठ्ठफल सिद्धि' माँगते है, वह इस श्रद्धा पर कि, 'भगवान के प्रभाव से इष्टफल की सिद्धि होती है ।' यह इष्ट सिद्धि में यदि भगवान का प्रभाव काम नहीं करता हो, तो गणधर महाराज इस पद को सूत्र में रखते ही नहीं । 'होउ मम तुह प्रभावओ भयवं ! इठ्ठफल-सिद्धि,' अर्थात् 'भगवान ! आपके प्रभाव से मुझे इष्टफल की सिद्धि प्राप्त हो' ऐसा कब कह सकते है ? इष्टसिद्धि भगवान के प्रभाव से अगर होती हो, तब ही ना ?

उत्तम पुरुषों की यह विशेषता होती है कि वे कार्यसिद्धि में बुझुर्ग का ही प्रभाव मानते हैं और कार्यसिद्धि का श्रेय उनको ही देते हैं । उसमें उनका ही उपकार समझते हैं । अपने लिए सबसे बड़े पूज्य है : देव और गुरु; इसलिए बात-बात में उनका ही उपकार समझना है । अगर यह बात समझ में आ जाये, तो 'मैं कर रहा हूँ' ऐसी खुद की बड़ाई ही नहीं होगी ।

सीताजी ने दिव्य को सफलता से पार किया । उसमें उन्होंने पति रामचन्द्रजी का उपकार माना, राम का प्रभाव माना । इसलिए, अपने सतीत्व पर आप-बड़ाई जरा भी नहीं मानी ।

१४. कर्म को तमाच

अब सीताजी की सबसे बड़ी विशेषता यह देखने को मिलती है कि अति सुखद संयोग आते हैं, तब उनका महावैराग्य भी प्रकाशित होता है ।

सफलता से दिव्य पार कर दिया । राम के पश्चात्ताप को शांत कर दिया । अब राम-लक्ष्मण खुश होकर सीताजी को रथ में बैठकर अयोध्यानगरी में आने के लिए और राजमहल में सुखमय जिंदगी बीताने के लिए कह रहे हैं । तब सीताजी उनको इन्कार करते हैं ।

इसका कारण है : (१) पूर्व संकल्प और (२) उत्कृष्ट वैराग्य ।

(१) सीताजी को पहले जब जंगल में छोड़ा गया, तब यह देखा कि,

मूल कारण में, जीव संसारवासना की तमन्ना को संतुष्ट करने के लिए संसार शुरू करता है, इसलिए ही उन्हें अनेक लोगों की और विषयों की अनेक प्रकार की गुलामी करनी पड़ती है, इसलिए ऐसे अनेक प्रकार के दुःख आते हैं ।

अगर संसार-वासना की तमन्ना नहीं है, तब संसार शुरू करने की कोई जरूरत नहीं और फिर कोई दुःख भी नहीं ।

दिव्य के बाद सीताजी ने चारित्रमार्ग पर चलने का निश्चय घोषित कर दिया; इससे ऐसा लगता है कि,

(१) 'जब सिर पर से यह कलंक दूर हो जाये, बाद में संसार त्याग कर लेना' ऐसा संकल्प वन में छोड़ देने के समय पर सीताजी ने किया होगा, अब दिव्य के कारण कलंक दूर हो गया है, तब इस संकल्प के मुताबित संसार त्याग करने का दृढ निश्चय हो, यह स्वाभाविक है । अब अयोध्या में जाकर राजमहेल में सुख से जिंदगी बिताने की बात सीताजी कैसे क़बूल करें ? दिव्य के बाद तुरंत संसार त्याग का यह एक कारण है ।

(२) संसार प्रति उत्कृष्ट वैराग्य । यह होने का कारण सीताजी देखते हैं कि,

इस संसार में बारबार कर्म की तमाच लगती है, ऐसे संसार में क्या मजा ?

सीताजी ने यह देखा कि :

यहाँ इस जनम में माइके से शादी करके ससुराल आई, तब राजमहेल से सुख की आस थी, लेकिन कर्म की तमाच ऐसी लगी कि पति के साथ वनवास के कष्ट आ गये । फिर भी यहाँ यह आश्वासन रखा था कि, 'मैंने कहाँ महल से शादी की है ? मैंने तो राम से शादी की है । मेरे पति यहाँ सलामत है, तो सब सलामत,'

तब कर्म की दूसरी तमाच लगी । रावण ने अपहरण कर दिया और मेरे पति सलामत नहीं रहे । पति का वियोग हुआ । फिर भी पति युद्ध करके रावण को पराजित करके मुझे अयोध्या में ले आये, तब लगा कि दुःख के दिन बीत गये,

तब कर्म की तीसरी तमाच लगी, झूठा कलंक लगा और पति के द्वारा गर्भावस्था में ही मैं जंगल में छोड़ी गई ।

'इस तरह इस जनम में कर्म की तीन बड़ी तमाच लगी, अब दिव्य करने से कलंक दूर हो गया, मेरी जय-जयकार हो गई और लोग मुझे बड़े सत्कार-सम्मान के साथ महल में जिंदगी बिताने के लिए कह रहे है, लेकिन ऐसा करने से क्या भरोसा कि कर्म की कोई बड़ी चौथी तमाच नहीं आयेगी ? इसलिए अब महलवास तो क्या, संसारवास ही गलत, संयमजीवन ही अच्छा ।'

प्रश्न : फिर भी संयमजीवन में आखिर में कर्म की मृत्यु-तमाच आयेगी ही ना ?

उत्तर : लेकिन मृत्यु की तमाच आने से पहले यदि जिनशासन को पाकर अहिंसा-संयम-तपरूप धर्मकार्य के द्वारा कर्म को तमाच लगाकर सदा के लिए कर्म को खत्म करने का, सर्वकर्म का नाश करने का महान कार्य कर लिया, तब मृत्यु के बाद सीधा मोक्ष हो जाता है । फिर कभी कर्म की तमाच नहीं ।

इसलिए सीताजी सोचते हैं कि, 'अगर मैं संसार में रहूँ, तो साधना रह जायेगी और भवांतर में तो कौन जाने संसार-वासना के पाप से कौन-सी गति में कैसा पापमय जीवन मिलेगा ! और वहाँ यह धर्मसाधना और कर्मनाश का कार्य कैसे होगा ?

अब कर्म मुझे क्या तमाच मारेगा, मैं अहिंसा-संयम-तप के द्वारा कर्म को तमाच लगा कर खत्म कर दूँगी ।'

बस, सीताजी यह संसार प्रति उत्कृष्ट वैराग्य से, कर्म की तमाच लगानेवाले संसार को छोड़कर चारित्रमार्ग पर जाने के लिए तैयार हो जाये; उसमें हैरानी कौन-सी ?

चारों ओर सीताजी का जय-जयकार हो चुका है और अब स्वजनों के महा सत्कार-सम्मान के साथ-साथ राजमहल के अतिप्रबल विषय-विलास के सुख की जिंदगी बीताने का मौका है । अब तक जीवन में बहुत दुःख सहन किये है, अब ऐसी सुखभरी जिंदगी मिलती है । ऐसे मौके पर भी सीताजी का संसारत्याग का निश्चय; यह एक सीताजी की उत्कृष्ट पराकाष्ठा की विशेषता है, इसमें से कैसे कैसे बोधपाठ मिलते है ?

सीताजी के संसार त्याग के प्रसंग से बोधपाठ :

(१) पहला तो यह कि, संसारवास अर्थात् घरवास की एक भी सुख देती चीज पर जरा भी भरोसा मत रखों कि, यह सदा के लिए है, क्योंकि यह चीजें बिना बताये चली जायेगी । इनके भरोसे आत्महित की साधना को मत गवाँए ।

(२) दूसरा यह कि, कर्म की तमाच अनन्तबार खा ली, अब उत्तम मानवभव और जिनशासन जो मुझे मिले है, वह कर्म को तमाच मारने के लिए मिले है; और **कर्म को तमाच अर्थात् दान-शील-तप-भावना, अहिंसा-संयम-तप, दर्शन-ज्ञान-चारित्र... वगैरह धर्मसाधना से कर्म का क्षय ।** इसलिए इस भव में ऐसी पाप-क्रीडाएँ बंध कर दें, जिससे हमें कर्म का मार खाना न पड़े । कर्म को मार मारने के लिए अविरत धर्मसाधना शुरू कर दें ।

(३) संसार के इन्द्रिय सुख के विषयों बड़े धोखेबाज हैं । जैसे दीप की झगमगाती ज्योति तितली को आकर्षित करके उसे खत्म कर देती है, उसी तरह ये धोखेबाज विषयों दिखने में तो अच्छे-झगमगते लगते हैं, पर वे मूढ-अज्ञानी तितली जैसे जीवों को अपनी ओर आकर्षित करके, आसक्त बना के दुर्गतिओं के दुःखों में फँसा देते हैं ।

सीताजी ने ये धोखेबाज विषयों के स्वरूप को पहचान लिया था, इसीलिए राजमहल के स्वाधीन विषयों को भी उन्होंने एक ही झटके से छोड़ दिये ! महासतीजी की तरह हमें भी शक्य विषयों को छोड़ने चाहिये, त्याग करने चाहिये ।

सीताजी की अंतिम विशेषता है : चारित्रजीवन की साधना ! यह साधना तो ऐसी विरल और अद्‌भुत थी कि, उसके फल में सीताजी बारवें देवलोक के इन्द्र 'अच्युतेन्द्र' बने ! वे कितने पुण्यशाली कि उन्हें मेरूपर्वत पर असंख्य तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का जन्मसिद्ध हक मिल गया ! वो भी कितने समय तक ? २२ सागरोपम की अपनी आयु तक !

२२ सागरोपम अर्थात् कितना समय ? :

एक सागरोपम अर्थात् १० कोडाकोडी पल्योपम । इस हिसाब से २२ सागरोपम अर्थात् २२० कोडाकोडी पल्योपम । यह एक-एक पल्योपम जितने समय में भी महाविदेह क्षेत्र में असंख्य तीर्थंकर भगवंत के जन्म होते हैं, तो २२० पल्योपम जितने समय में कितने असंख्य तीर्थंकर का जन्म ! यह २२० पल्योपम भी एक-दो बार नहीं, परंतु एक क्रोड बार ! यानि २२० क्रोड-क्रोड पल्योपम के काल में जितने भी असंख्य तीर्थंकर भगवान का जन्म होगा, उन सभी का मेरूपर्वत पर जन्माभिषेक के समय ६४ इन्द्रों और क्रोडों देवता के बीच सबसे पहले जन्माभिषेक करने के अधिकारी अच्युतेन्द्र ! सीताजी ऐसे अच्युतेन्द्र हुये हैं ! इनका कितना बेहद पुण्यानुबंधी पुण्य होगा कि ये पुण्य २२० क्रोड-क्रोड पल्योपम तक उदय में रहेगा ! और उनको प्रथम जन्माभिषेक की तक देगा !

इस असंख्य तीर्थंकर के प्रथम जन्माभिषेक का पुण्य और असंख्य इन्द्रों में प्रथम इन्द्रपन का पुण्य उपार्जन के पीछे सीता साध्वीजी की सम्यग्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप की साधनाएँ कैसी-कैसी और कितनी ज़ोरदार होगी !

तब, 'बेहद पुण्य खड़ा हुआ होगा' यह सिर्फ सुन लेने से या सिर्फ समझ लेने से नहीं चलेगा; वह कठिन साधनाएँ एक-एक करके नजर के सामने लायें, तब मन में चमकारा होगा कि सीताजी ने कैसे राजाशाही सुख-सम्मान की तक को ठुकराकर कैसी-कैसी कठिन साधनाएँ की ! किस तरह से इतनी कठिन आराधनाएँ की होगी ? कहिये,

तन और मन के सामने देखे बिना जो आराधना हो, तब ही वह उच्च प्रकार की होगी ।

बात-बात में तन-शरीर के सामने देखते रहेंगे कि, 'मेरा शरीर कैसा रहता है ?' तब कोई भी उच्च आराधना नहीं होगी । इसी प्रकार, मन के सामने देखते रहेंगे कि, 'मेरे मन की क्या भावना है ? मेरा मन क्या कहता है ?' तब कोई उच्च आराधना नहीं होगी । यह तो तन निचोड़ देना हो और ज्ञानी की आज्ञा को सामने रखकर मन मोड़ने का हिसाब हो, तब ही उच्च कोटि की आराधना हो पायेगी ।

सीताजी ने अपने सुकोमल शरीर से, उसमें भी राजमहल में सुखपूर्वक जीवन बीताने के अवसर को ठुकराकर जिनेश्वर भगवान की भक्ति, गुरु की भक्ति, अहिंसा-संयम का पालन, विविध त्याग और तपस्याएँ एवं ज्ञान-ध्यान आदि की कठोर साधना की थी, तब जाकर उन्हें ऐसे अद्‌भुत असीम पुण्य की प्राप्ति हुई; यह बारबार मनन करने जैसा है ।

सीताजी की यह कठोर आराधनाएँ सिर्फ बाह्य से ही नहीं थी, लेकिन अंतर में उच्च शुभ अध्यवसाय, शुभ भावोल्लास और अनुपम विशुद्ध लेश्या के साथ की थी, तब उन्हें यह सामान्य नहीं, लेकिन अद्‌भुत पुण्य की प्राप्ति हुई ।

बस, सीताजी के जीवन की अनेक विशेषताओं को संक्षिप्त में नोंध करके याद करनी चाहिये । बाद में बारबार याद करते हुए और जीवन में उन विशेषताओं का आचरण करते हुए स्व-आत्मा का विकास करते रहना चाहिये, यही प्रभावक पूर्वज सीताजी के यशोगाथा की सफलता होगी ।

भुवनभानु एन्साइक्लोपीडिया भाग – १ से ७६

भाग – १ से १०	अग्रलेखामृत
भाग – ११	अग्रलेखामृत + दिव्यदर्शन + गणधरवाद
भाग – १२	साधर्मिक भक्ति + जीवनना आदर्श + अनंतना प्रवासे
भाग – १३/१४	श्री योगदृष्टि समुच्चय
भाग – १५	श्री योगदृष्टि समुच्चय + निश्चय अने व्यवहार
भाग – १६	अनाथी मुनि + मदनरेखा + कल्याणमित्र + नमिराजर्षि
भाग – १७	संसारनी जड़ + जीवनमां दिशानुं परिमाण + संसारना त्रिविध ताप
भाग – १८	गृहस्थ धर्म केम दीपे? + दर्शननी षड्विध कला + अरिहंतनी ओळखाण + जैन शासनमां भागवती दीक्षानुं स्थान + संस्कृतिना संरक्षण
भाग – १९	ध्यान अने जीवन
भाग – २०	ध्यान अने जीवन + चिंताना प्रकारो
भाग – २१ से २५	समरादित्य कथा
भाग – २६	समरादित्य कथा + अमीचंदनी अमीदृष्टि + महासती देवसिका + रूपेसन अने सुनंदा
भाग – २७	पर्युषण पर्वना प्रवचनो
भाग – २८/२९	आत्मानो विकास अने महासती सीताजी
भाग – ३०	ललित विस्तरा + सती दमयंती
भाग – ३१	श्री शांतिनाथ भव – १ से ४
भाग – ३२	श्री शांतिनाथ भव – १ से ६
भाग – ३३	श्री शांतिनाथ भव – ६ से ८
भाग – ३४	श्री शांतिनाथ भव – ८ से १०
भाग – ३५	श्री शांतिनाथ भव – ८ से १० + प्रारब्ध पर पुरुषार्थनो विजय + उब्बुड्डो मा पुणो निबुड्डिज्जा
भाग – ३६	शांतसुधारस अने ऋषिदत्ता–१
भाग – ३७	शांतसुधारस अने ऋषिदत्ता–२
भाग – ३८	वीसस्थानक – अरिहंतपद – देवपालनी साधना + तामसभावना तांडव
भाग – ३९	वीसस्थानक – सिद्धपद – हस्तिपालनी साधना + रागद्वेष करावे क्लेश
भाग – ४०	रागद्वेष करावे क्लेश + नरसिंहनी कथा + दानधर्म
भाग – ४१/४२	श्री कुवलयमाळा – चरित्र व्याख्यान १–२
भाग – ४३	श्री कुवलयमाळा – चरित्र व्याख्यान ३ + कषाय रोको : छुटवानो मोको
भाग – ४४	कषाय रोको : छुटवानो मोको
भाग – ४५	श्री पंचसूत्र भाग–१

भाग – ४६	श्री पंचसूत्र भाग–२ + भवाभिनंदी जीवना ८ दुर्गुण + जीवनसंग्राम
भाग – ४७	संदेशो प्रभुवीरनो + कामलतानी करुण कहानी
भाग – ४८	सुलसाचरित्र + भोगोपभोग परिमाणव्रत
भाग – ४९	तरंगवती–१
भाग – ५०	तरंगवती–२ + असंखयं जीवियं मा पमायए
भाग – ५१/५२	रुक्मिराजानुं पतन अने उत्थान–१/२
भाग – ५३	राजपुत्र आर्द्रकुमार
भाग – ५४	आनंदघनजी कृत स्तवन रहस्यार्थ १ से ५
भाग – ५५	आनंदघनजी कृत स्तवन रहस्यार्थ ६ + उपा. यशोविजय कृत चोविशी रहस्यार्थ १ से ७
भाग – ५६	उपा. यशोविजय कृत चोविशी रहस्यार्थ ८ से १५
भाग – ५७	परमतेज सारोद्धार
भाग – ५८	अरिहंत–सिद्ध–आचार्यपद पूजा
भाग – ५९	उपाध्याय + साधुपद पूजा + मार्गानुसारी जीवन + षोडशक + गणधरवाद (२ से ११)
भाग – ६०	ध्यानशतक + श्री तत्त्वार्थ उषा + नमस्कार ग्रंथनो उपोद्घात
भाग – ६१	उच्च प्रकाशना पंथे
भाग – ६२	श्री भगवतीसूत्र विवेचन भाग–१ + उपदेशमाला
भाग – ६३	धर्म केम अने केवो आराध्य? + प्रकरण दोहन + पळमां पापने पेले पार + प्रकीर्ण प्रसाद
भाग – ६४	श्रद्धांजली–१
भाग – ६५	श्रद्धांजली–२
भाग – ६६	समाचार–१
भाग – ६७	समाचार–२
भाग – ६८	समाचार–३
भाग – ६९	समाचार–४
भाग – ७०	समाचार–५
भाग – ७१	शासन प्रभावना–१
भाग – ७२	शासन प्रभावना–२
भाग – ७३	शासन प्रभावना–३
भाग – ७४	शिबिर–१
भाग – ७५	शिबिर–२
भाग – ७६	प्रकीर्ण प्रसाद

जैन पाठशाला में अद्भुत क्रान्ति

ગુજરાતી – हीन्दी – English
तीनों भाषा में उपलब्ध

- **सूत्र गोखो :** सूत्र को रटने या गोखने के लिए ।
- **सूत्र का अर्थ :** सूत्र का अर्थ समझने के लिए ।
- **सूत्र पुनरावर्तन :** सूत्र का पुनरावर्तन करने के लिए ।
- **सूत्र लखो :** सूत्र को लिखकर शुद्धि करने के लिए ।
- **सूत्र परीक्षा :** पढे हुए सूत्र तथा उसके अर्थ की परीक्षा देने और परिणाम प्राप्त करने के लिए ।

१०,००० से ज्यादा लोग यहाँ पढ़ रहे है !

क्या आप अभी भी वंचित है?

Self Learning Pathshala

Free download from google play store

JAIN ONLINE .ORG

JAINONLINE.ORG

धर्म और विज्ञान का एक अद्भुत प्लेटफोर्म

8425090907 & Get Great teasure of Jain Shashan

"Jainonline"

Children Stories

क्या आप जानते है इन महापुरुषों को?

Games

इसके साथ जुड़ना न भूले !

अहो आश्चर्यम् !!!
घर बैठे ही शहापुर तीर्थ के दर्शन

सर्वप्रथम बार आ रहा है
Digital Syllabus

SMART LEARNING PATHSHALA

सूत्रों को डिजिटल माध्यम के द्वारा पढ़ने, याद करने, लिखने-अर्थ समजने-चित्रों की मजा लेने... के साथ-साथ सूत्रों की परीक्षा-ओडियो बुक-विडीयो बुक-जनरल नोलेज-पूजाविधि-स्टोरी, गेम्स और भी बहुत कुछ...

समग्र पुस्तक पढ़ने का समय न हो, तो पुस्तक का सार मोबाइल पर

गुरु का सार
हर गुरुवार

Fantastic Video Episodes of Gurudev

Audio Book